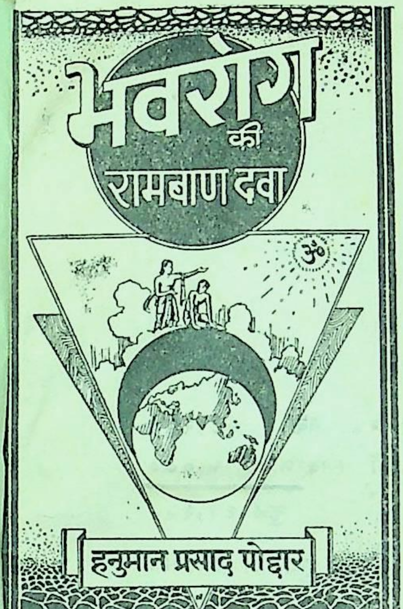
भवरोग की रामबाण दवा



हनुमान प्रसाद पोद्दार

मूल्य पैंतीस पैसे


भवरोग
की
रामबाण दवा
ॐ
हनुमान प्रसाद पोद्दार

मुद्रक तथा प्रकाशक
मोतीलाल जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

संवत्	२००१ से २०२४ तक	५८,२५०
संवत्	२०२६ ग्यारहवाँ संस्करण	५,०००
	कुल	६३,२५०

तिरसठ हजार दो सौ पचास

मूल्य पैंतीस पैसे

मिलनेका पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

'कल्याण' में कुछ वर्ष पूर्व 'पञ्चसकार' शीर्षकसे भाईजी (श्रीयुत हनुमानप्रसादजी पोद्दार) की दो लेखमालाएँ प्रकाशित हुई थीं, जिनमें क्रमशः सहिष्णुता, सेवा, सम्मानदान, स्वार्थत्याग, समता, सत्सङ्ग, सदाचार, सन्तोष, सरलता और सत्य—इन दस गुणोंका विस्तृत विवेचन किया गया था। इस पुस्तकमें वे ही दोनों लेखमालाएँ संगृहीत हैं। आयुर्वेदमें पञ्चसकार नामका एक प्रसिद्ध नुसखा है, जो पाँच चीजोंसे तैयार किया जाता है। उन चीजोंके नाम सकारादि होनेसे नुसखेका नाम पञ्चसकार रखा गया है। लेखकने 'कल्याण' में जो दो आध्यात्मिक नुसखे प्रकाशित किये थे, उनमें भी ऐसे गुणोंका वर्णन किया गया है, जिनके नाम सकारसे प्रारम्भ होते हैं। कहना न होगा कि ये सभी गुण ऐसे हैं, जिन्हें धारण करनेसे मनुष्य थोड़े ही समयमें सारे मानसिक रोगोंसे मुक्त होकर परम स्वस्थ—आत्मकल्याणका अधिकारी बन सकता है। इन गुणोंको सभी लोग धारण कर सकते हैं; चाहे वे किसी देश, किसी धर्म, किसी वर्ण, किसी जाति और किसी सम्प्रदायके क्यों न। इस दृष्टिसे यह छोटी-सी पुस्तक सबके कामकी होगी।

जीवनको आदर्श एवं सर्वाङ्गसुन्दर बनानेके लिये इसमें पय
सामग्री है । मनुष्य चाहे तो केवल इस पुस्तकको आधार
पथप्रदर्शक बनाकर दुस्तर भवसागरको अनायास ही पार
सकता है । लेखकने इसमें सभी साधनोपयोगी गुणोंका समावे
कर मानो सागरको गागरमें भर दिया है । यह कहना अनावश्य
है कि ये सब-के-सब प्रयोग समस्त धर्मों एवं सभी शास्त्रों
सम्मत होनेके साथ-साथ लेखकके द्वारा प्रायः स्वयं अनुभूत हैं
ऐसी दशामें इनकी सफलताके विषयमें किसीको सन्देह नहीं
सकता । जो भी चाहें इन्हें काममें लाकर इनकी उपयोगिता
प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं । इनके आंशिक उपयोगसे
जीवनमें अभूतपूर्व विकास होने लगेगा और जीवन क्रमशः अपने
लक्ष्यकी ओर बढ़ता हुआ दृष्टिगोचर होगा । पुस्तककी भाषा बड़
सरल और मार्मिक है । आशा है, लेखककी अन्य पुस्तकोंकी भाँ
इसका भी समुचित आदर होगा और लोग इससे लाभ उठाक
जीवनको उन्नत बनानेकी चेष्टा करेंगे ।

विनीत—

चिम्मनलाल गोस्वामी

(एम्० ए०, शास्त्री)

श्रीहरिः

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

[प्रयोग १]

द्वितीय खण्ड

[प्रयोग २]

॥ श्रीहरिः ॥

भवरोगकी
रामबाण दवा

प्रथम खण्ड

पञ्चसकार

[प्रयोग १]

उदरके समस्त दूषित मलको निकालनेके लिये वैद्यलोग एक पञ्चसकार चूर्णका प्रयोग किया करते हैं। जिसके सेवनसे उदर निर्विकार हो जाता है, सारी व्याधियोंकी जड़ उदरविकार ही है। जहाँ उदर-विकार नष्ट हुआ, वहीं तमाम रोगोंकी जड़ कट गयी। इसी प्रकार समस्त भवव्याधिका समूल नाश करनेवाला एक पञ्चसकारका रामबाण नुसखा है। इसमें भी पाँच चीजें हैं और पाँचों ही एक-से-एक बढ़कर लाभ देनेवाली हैं। इनमेंसे किसी एकका अलग सेवन करनेसे भी सब विकार नष्ट हो जाते हैं। जो पुरुष पाँचोंका सेवन करते हैं, उनके लिये तो कहना ही क्या है। ये पाँच सकार हैं—**सहिष्णता, सेवा, सम्मानदान, स्वार्थत्याग और समता।**

अब इनमेंसे एक-एकपर विचार करना है।

(१)

सहिष्णुता

सहिष्णुताका अर्थ है तितिक्षा या सहनशीलता । सहनशीलताके मुख्य चार अङ्ग हैं—१ द्वन्द्वसहिष्णुता, २ वेग-सहिष्णुता, ३ परोत्कर्ष सहिष्णुता और ४ पर-मतसहिष्णुता। अब इनपर क्रमसे कुछ विचार कीजिये

द्वन्द्वसहिष्णुता

'सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय, मान-अपमान, शीत-उष्ण आदि परस्परविरोधी द्वन्द्वोंमें हर्ष और विषाद न होकर चित्तका सर्वथा निर्विकार रहना द्वन्द्वसहिष्णुता है ।' इस द्वन्द्व-सहिष्णुताका फल अमृतत्व या मोक्षकी प्राप्ति है । भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥
(गीता २ । १४-१५)

'अर्जुन ! शीत-उष्ण और सुख-दुःख देनेवाले ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग क्षणभङ्गुर और अनित्य हैं । भारत ! तू इनको सहन कर । पुरुषश्रेष्ठ ! सुख-दुःखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये द्वन्द्व व्याकुल नहीं कर सकते, वह मोक्ष-प्राप्तिके योग्य हो जाता है ।'

अब यह प्रश्न होता है कि यह द्वन्द्व-सहिष्णुता प्राप्त कैसे हो ? इसका पहला साधन तो यह विचार है कि सांसारिक हानि-लाभ, सुख-

दुःख जो कुछ भी होता है, सब हमारे पूर्वकृत कर्मका फल है और कर्मफल भोग करना ही पड़ता है। सञ्चित और क्रियमाणका तो नाश भी हो जाता है; परंतु प्रारब्धका नाश स्वरूपसे नहीं हो सकता। अवश्य ही ज्ञानी पुरुषमें कर्त्ता और भोक्तापनका अहंकार न होनेसे प्रारब्धकर्मके अनुसार फल होनेपर भी उनपर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता तथापि स्वरूपसे प्रारब्धका नाश प्रायः नहीं होता। नियन्ता भगवान्‌के द्वारा फल देनेके लिये नियत किये हुए कर्मोंका फल, जिनसे जन्म हुआ है, मृत्युकालतक विधिवत् भोग करना ही पड़ेगा। प्रारब्धभोगसे हमारे कर्म क्षय होते हैं और जितना ही कर्मोंका जंजाल कटता है, उतना ही हम परमात्माके समीप पहुँचते हैं। कम-से-कम कर्मोंका एक बड़ा भारी ऋण सिरसे उतर ही जाता है। अतएव इनको आनन्दपूर्वक सहन करना चाहिये।

एक बात यह याद रखनेकी है कि सुखकी प्राप्तिमें हर्ष होना और दुःखमें विषादसे जलना दोनों ही असहिष्णुताके दो प्रकार हैं। कई लोग इस असहिष्णुतामूलक सुखको ही आनन्द मानते हैं, परंतु यह उनकी भूल है। तत्त्वज्ञ पुरुषोंने असहिष्णुतामूलक सुख और दुःख दोनोंको ही परिणाममें दुःखरूप होनेसे दुःख ही बतलाया है, अतएव सुख-दुःख दोनोंमें ही सहिष्णुता होनी चाहिये। दोनोंमें ही विकारहीन स्थिति होनी चाहिये।

द्वन्द्व-सहिष्णुताका दूसरा साधन है—सुख-दुःखादिके स्वरूपका ज्ञान। विचार करनेपर पता लगता है—सुख-दुःखादि वास्तवमें किसी

वस्तुमें नहीं हैं, इनका स्रोत हमारे मनमें ही है। जहाँ प्रतिकूलता या अभावका अनुभव है वहीं दुःख है; और जहाँ अनुकूलता या अभावका अनुभव नहीं है वहीं सुख है। अनुकूलता और प्रतिकूलताका आधार है—राग और द्वेष। जिस वस्तुमें राग है, उस वस्तुकी प्राप्तिमें, और जिस वस्तुमें द्वेष है, उसके विनाश या अभावमें हमें अनुकूलता दीखती है। इसी प्रकार द्वेषवाली वस्तुकी प्राप्तिमें और रागवाली वस्तुके विनाश या अभावमें प्रतिकूलता प्रतीत होती है। राग और द्वेष सदा सब वस्तुओंमें एक-से नहीं रहते, अतएव अनुकूलता-प्रतिकूलता भी एक-सी नहीं रहती। आज एक मनुष्यमें किसी स्वार्थके सम्बन्धसे राग है, इससे उसका मिलन अनुकूल और विछोह प्रतिकूल प्रतीत होता है। सम्भव है कि कल स्वार्थमें कोई बाधा उपस्थित होनेपर उसमें द्वेष हो जाय, तब उसीका मिलन प्रतिकूल और विछोह अनुकूल प्रतीत होगा। वरं कहीं-कहीं तो उसकी मृत्युतकमें अनुकूलता प्रतीत होगी। जहाँ प्रतिकूलता है वहीं अनुकूलताका अभाव है, और इस अनुकूलताके अभावका चित्तमें जो एक अनुभव होता है, वह बड़ा ही उद्वेग-कारी और जलन उत्पन्न करनेवाला होता है, इस उद्वेग और तापसे पूर्ण अनुभवका नाम ही दुःख है। परंतु सोचनेपर यह बात प्रत्यक्ष हो जाती है कि हमारी कल्पित अनुकूलता-प्रतिकूलता ही इस प्रकारके सुख-दुःखमें कारण है और इस अनुकूलता-प्रतिकूलताका आधार राग-द्वेष है, राग-द्वेषकी उत्पत्ति अज्ञानजनित अहंकारसे या अज्ञानसे ही होती है। विवेकसे—विचारसे इस अज्ञानका पर्दा फाड़ डालनेपर राग-

द्वेष नष्ट हो जाते हैं। जहाँ राग-द्वेष निकले, वहीं सुख-दुःखका स्रोत अपने आप ही सूख जाता है। फिर किसी भी स्थितिमें न सुख होता है, न दुःख। फिर सुख-दुःखरहित आनन्दमें ही सब भोग भोगे जाते हैं।

तीसरा साधन है—यह विचार करना कि 'कर्मफल-भोगका जो कुछ विधान हुआ है, उसके नियामक हमारे परम सुहृद्, परम प्रियतम मङ्गलमय भगवान् हैं। उनका किया हुआ कोई भी विधान हमारे अमङ्गल-के लिये नहीं हो सकता। मङ्गलमयमें अमङ्गलको स्थान ही नहीं है। फिर वे तो हमारे परम आत्मीय हैं, उनके द्वारा तो हमारा अमङ्गल सर्वथा असम्भव है। हमने अमङ्गलका आश्रय ले रक्खा है, इसीसे उनके सुहृद् स्वरूपको नहीं समझते, और इसीसे उनके विधानमें हमें हर्ष-शोक होता है। हमारा उनमें प्रेम नहीं है, इसीसे उन प्रियतमके किये हुए मङ्गल विधानमें अमङ्गल देखकर हम मन मैला करते हैं। सुख-दुःखकी यह उनकी लीला है। हमारे मङ्गलके लिये अनादिकाल-से यह अनवरत चल रही है और चलती रहेगी। इस लीलाका कभी विराम नहीं हुआ। हमें उचित है कि हम उन परम सुहृद्के प्रत्येक विधानको मङ्गलपूर्ण समझकर सिर झुकाकर आदरके साथ ग्रहण करें। उन परम प्रियतमके प्रत्येक विधानके पीछे उनका मङ्गलमय कोमल वरद हाथ देखकर हमें आनन्दसे नाच उठना चाहिये। उन प्रियतमका कितना प्रेम है हमारे प्रति कि वे सर्वलोकमहेश्वर होकर भी हम-जैसे क्षुद्रोंके लिये नित्य मङ्गलविधान करनेमें ही लगे रहते हैं। कभी स्नेहमयी जननीकी भाँति गोदमें खेलाते हैं, तो कभी परम हितैषी विशेषज्ञ डाक्टरकी भाँति हमारे सड़े अङ्गको चीरकर उसमेंसे जहरीला मवाद

निकाल डालते हैं।' यही तो सुख-दुःखका स्वरूप है। जो लोग असहिष्णुतामूलक सुखकी स्थितिमें—धन, पुत्र, परिवार, स्वास्थ्य, ऐश्वर्य, यश, मान आदि लौकिक वस्तुओंकी प्रचुर प्राप्तिमें—भगवान्‌की दया मानते हैं और इनके विनाश या अभावमें भगवान्‌का कोप मानते हैं, वे भगवान्‌की दयाका रहस्य ही नहीं समझते। निश्चय रखिये कि जिसमें हमारा मङ्गल होगा—कल्याण होगा, मङ्गलमय वही करेंगे; वे हमारा अमङ्गल कर ही नहीं सकते; क्योंकि वे हमारे परमसुहृद् हैं। हम नहीं समझते, हमारा कल्याण किस बातमें है। वे समझते हैं; क्योंकि वे सर्वज्ञ हैं। अतएव उनके प्रत्येक विधानको हमें सर्वथा सम्मानपूर्वक सानन्द सिर चढ़ाना चाहिये।

और बड़े महत्त्वकी एवं असली बात तो यह है कि विधान और विधाता अलग-अलग हैं ही नहीं! सब कुछ वही हैं। सुखमय सृजन और भयंकर संहार दोनों उन्हीं आनन्दमय प्राणारामके दो आनन्दमय स्वरूप हैं, वे कभी भयानक भूकम्प और कराल कालके रूपमें प्रकट होते हैं, तो कभी शान्त सुखसाम्राज्य और सुशीतल विकासके वेषमें सामने आते हैं। यह उन रसिकशेखरकी रसिकता है। जो उन्हें एक बार पहचान लेता है, वह फिर न तो उनके किसी सौम्य रूपको देखकर चकित होता है और न भयानक रूपसे डरता ही है। वह सबमें सब समय सर्वत्र उन आनन्दमयको देखकर, सबमें उनका कोमल मधुर स्पर्श पाकर नित्य दिव्यानन्दमें डूबा रहता है। यह आनन्द असहिष्णुतामूलक हर्ष नहीं है। विषयोंमें तो यह आनन्द है ही नहीं, उनमें तो दुःखका प्रतिद्वन्द्वी सुख है। इस आनन्दका दर्शन तो उन्हींको होता है जो विषयोंके

जगत्‌से—जड जगत्‌से ऊपर उठकर आत्माके—चेतनके जगत्‌में चले जाते हैं। यह द्वन्द्वातीत आनन्द उन्हींको प्राप्त होता है, जो असहिष्णुता-मूलक हर्ष-शोककी परिधिको लाँघकर दिव्य आनन्दके साम्राज्यमें प्रवेश करते हैं। क्योंकि वे फिर एक प्रियतम भगवान्‌को छोड़कर और किसीको देखते ही नहीं।

भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(गीता ६। ३०)

'जो मनुष्य सर्वत्र मुझको देखता है और सबको मुझमें देखता है, उससे मैं कभी अदृश्य नहीं होता और वह मुझसे कभी अदृश्य नहीं होता।'

ऐसे भक्त प्रत्येक सुख-दुःखके रूपमें सर्वथा, सर्वदा और सर्वत्र प्राणाराम प्रियतम भगवान्‌के कोमल अरुण चरणोंके दर्शनकर उनका स्वागत करते हैं, उनका आलिङ्गन करते हैं, उनको चूमते हैं। न सुखमें फूलते हैं और न दुःखमें रोते हैं, वे नित्य-निरन्तर आनन्दमय ही हुए रहते हैं। यही द्वन्द्व-सहिष्णुताका सर्वोत्तम स्वरूप है।

द्वन्द्व-असहिष्णुता ही दुःख है और इस दुःखको हमने जोरसे पकड़ रक्खा है। यदि हम प्रत्येक द्वन्द्वमें आनन्दकी कल्पना करें, तो उस कल्पनासे ही हमारा दुःख बहुत कुछ कम हो जायगा। वास्तवमें सब भगवान् होनेके कारण प्रत्येक द्वन्द्व आनन्दरूप है ही। हमें निरन्तर उस अपार अगाध आनन्दाम्बुधिमें डूबे रहना

चाहिये। यह याद रखना चाहिये, हम आनन्दसे ही उत्पन्न हैं, आनन्दमें ही रहते हैं और आनन्दमें ही हमारा अवसान है। महान् आनन्दसे नित्य परिपूर्ण हैं, आनन्दस्वरूप ही हैं। तो फिर किसी भी अवस्थामें-भयानक मृत्युमें भी हमें आनन्दके ही आनन्दमय दर्शन होंगे। द्वन्द्व-जनित सुख-दुःखरूपी 'दुःख' सदाके लिये नष्ट हो जायगा।

वेगसहिष्णुता

'अज्ञान और अहंकारके कारण मनमें उठनेवाले काम, क्रोध, लोभ, अभिमान, वैर, हिंसा, प्रमाद आदि दुष्ट भावोंके वेगको रोक लेना और इनके वशमें न होना वेगसहिष्णुता है।' विषयासक्तिके कारण समय-समयपर इनका वेग बरसातकी मौसिममें बढ़ी हुई पहाड़ी नदियोंके प्रवाहके समान बहुत ही प्रबल होता है। मनुष्यको बरबस बहा ले जाता है। परंतु विचारपूर्वक धैर्यके साथ इनके वेगको सहना चाहिये; क्योंकि सहनेमें ही कल्याण है और श्रीभगवान्‌के कृपा-बलका अवलम्बन करनेपर ऐसा होना कोई बड़ी बात नहीं है। श्रीभगवान्‌ने सारे पापोंकी उत्पत्ति इन काम, क्रोध आदिसे ही बतलायी है और इन्हें नरकका द्वार कहकर इनसे बचनेकी आज्ञा दी है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(गीता १६। २१)

'काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके दरवाजे हैं। ये आत्माका पतन करनेवाले हैं, अतएव इन तीनोंका त्याग

करना चाहिये।' भगवान्‌ने इनके वेगको रोक रखनेवाले पुरुषोंको ही 'युक्त' और 'सुखी' बतलाया है।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥
(गीता ५। २३)

'जो मनुष्य शरीरसे निकलनेके पहले ही इन काम-क्रोधसे उत्पन्न वेगको सह सकता है (रोक सकता है), लोकमें वही युक्त है और वही सुखी है।' इन वेगोंको न सहकर इनके प्रवाहमें बह जानेसे कितने-कितने भारी अनर्थ और अपराध हो जाते हैं, किस प्रकार अनन्तकाल और अनन्त योनियोंके लिये दुःखभोगकी कारणरूपा दुष्कर्मराशिका मनुष्य संग्रह कर लेता है, इसपर धीरतापूर्वक विचार करते ही कलेजा काँप उठता है। वेगोंको सहनेका उपाय है—'भोगोंमें वैराग्य और भगवान्‌में अनुराग।' भोगोंमें विराग हुए बिना भगवान्‌में अनुराग नहीं होता और भगवान्‌में अनुराग होनेपर भोगोंमें राग रह नहीं सकता। जिसने उस पूर्णकाम प्राणाराम सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्यकी अनन्त अचिन्त्य निधि भगवान्‌का स्वप्नमें भी विचारसे भी दर्शन प्राप्त कर लिया, वह फिर किस सुखका कामी होगा! वह तो सदाके लिये अपना सर्वस्व उस अखिल सौन्दर्यसारसागर, दिव्यातिदिव्य—माधुर्यनिधि प्राणप्रियतम हृदयबन्धुके चरणोंमें समर्पण कर देता है। जब कोई दूसरा ही नहीं रहता तब दूसरे किसीके लिये उसमें कामकी वासना ही कैसे रह सकती है! जब अखिल विश्व उसे विश्वात्मासे परिपूर्ण दीखता है, जब विश्व-रूपमें वही प्रकट दीखता है, तब कोई किसपर किस प्रकार क्रोध कर सकता है?

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

ज्ञानी मुनिगण सदा-सर्वदा जिनकी चरणरजके लोभी रहते हैं, उन अखिल ऐश्वर्यसागर भगवान्‌में जब अनुराग हो जाता है तब फिर अन्य किस लोभनीय वस्तुके लिये लोभ रह सकता है ? मतलब यह कि भगवान्‌में अनुराग होनेपर सबसे विराग अपने-आप ही हो जाता है। अनुराग पूर्ण होनेके पूर्व ही भगवान्‌के प्रेम, महत्त्व, तत्त्व और शुद्ध सत्त्वकी बातें ही श्रद्धापूर्वक सुननेपर चित्त उनमें अनुरक्त होने लगता है। श्रीमुकुन्द-पदारविन्द-मकरन्द-मधुकर विषयचम्पकचञ्चरीक होता ही है। अर्थात् भगवान्‌के चरणकमलोंकी परागका पान करनेवाला भ्रमर विषयरूपी चम्पाके फूलपर क्यों बैठने लगा ? परंतु भगवान्‌में अनुराग जबतक न हो, जबतक उस रूपमाधुरीका उन्मादकारी स्वाद न प्राप्त हो, तबतक विषयोंमें दुःखदोष देखकर और भगवान्‌में अपार सुख समझकर विषयोंसे चित्त हटाने और भगवान्‌में लगानेका साधन करना पड़ेगा। यही 'वैराग्य' और 'अभ्यास' है। विषयोंसे चित्त हटानेका साधन किये बिना भगवान्‌की ओर मन लगानेका अभ्यास सहज ही नहीं होता, अतएव दोनों कार्य साथ-साथ चलने चाहिये। फिर ज्यों-ज्यों विषयोंमें विराग और भगवान्‌में अनुरागकी वृद्धि होगी त्यों-ही-त्यों वेगसहिष्णुता अपने-आप ही आती चली जायगी।

परोत्कर्षसहिष्णुता

'दूसरेकी उन्नति, श्री, शक्ति आदिको देखकर चित्तमें जलन न होकर प्रसन्नता होना, परोत्कर्ष सहिष्णुता है। यह सहिष्णुता स्वार्थ

और ममत्वके विस्तारके अनुसार व्यक्ति, समाज, सम्प्रदाय, देश और भूखण्डव्यापिनी हो सकती है। दूसरे भाईकी, दूसरे समाजकी, दूसरे सम्प्रदायकी, दूसरे देशकी या दूसरे लोककी उन्नति देखकर अपनी उन्नतिके लिये सात्त्विक उत्साह उत्पन्न होना बुरा नहीं है वरं वह तो अवश्य होना चाहिये। जीवनका वह एक प्रधान चिह्न है, परंतु ऐसा न होकर चित्तमें जलना, दूसरेकी अवनति या विनाशकी कामना करना और इस उद्देश्यसे चेष्टा या क्रिया करना निश्चय ही बड़ा दोष है। अज्ञान-वश क्षुद्र अहङ्कारकी सीमामें कैद रहनेके कारण ही ऐसा होता है। यदि तुम अपनी उन्नतिके लिये दूसरोंकी अवनति या विनाश चाहते हो तो समझ लो कि तुम भगवान्‌की उस संहारिणी शक्तिका आवाहन कर रहे हो, जो तुम्हारी उन्नतिका पथ रोक देगी। भगवान्‌के मङ्गल-विधानमें ऐसा अन्याय या पक्षपात नहीं है कि वे तुम्हारे चाहनेसे दूसरोंको गिरा दें और सिर्फ तुम्हें ऊँचा उठा दें। यदि तुम अपने लिये दया एवं न्याय चाहते हो तो वैसे ही दूसरोंके लिये भी चाहो। ऐसा करके तुम भगवान्‌की उस रचनात्मिका उच्चतर शक्तिको बुलाओगे, जो दूसरोंको हानि न पहुँचाकर तुम्हें उन्नत कर देगी। संसारमें वस्तुतः अपना-पराया कुछ भी नहीं है। सब कुछ भगवान्‌का है। हम तो महामाया-महेश्वर लीलामय भगवान्‌के इस नाट्यमञ्चपर अभिनय करनेवाले अभिनेता मात्र हैं। अपना-अपना पार्ट सावधानी और सुन्दरताके साथ पूरा करना हमारा कर्तव्य है। अपना-पराया मानकर दुखी-सुखी होना नहीं। यह अपना-परायापन प्रकृतिके स्टेजपर—नाट्य मञ्चपर ही है। वस्तुतः आत्मामें-भगवान्‌के राज्यमें कुछ भी अपना-परायापना नहीं है।

वह सबमें एक है। एक ही भगवान्‌का सर्वत्र विकास है, वही स्वयं विभिन्न रूपोंमें लीला कर रहे हैं। हमें उन लीलाविहारीकी लीला देख-देखकर आनन्दमग्न होना चाहिये।

ऋतुओंके अनुसार ही भिन्न-भिन्न वृक्ष फूलते-फलते हैं। बारहों महीने सब समानरूपसे फलें-फूलें तो इस विचित्र पुष्पोद्यानका सौन्दर्य ही नष्ट हो जाय। आज एककी मौसिम है, वह फूलता-फलता है तो दूसरा उसे देखकर जले क्यों? उसे इस आशासे प्रसन्न होना चाहिये कि इसीकी भाँति मेरी मौसिम आनेपर मैं भी फूलूँ-फलूँगा और इस सुख-स्मृतिमें कारण उस आजके फूले-फले वृक्षको मानकर उसके प्रति और भी प्रेम होना चाहिये।

एक व्यापारी-फर्मकी बीसों स्थानोंमें शाखाएँ हैं, फर्मका मालिक आवश्यकतानुसार कहीं रुपये भेजता है और कहींसे वापस मँगवा लेता है। जिस शाखापर मालिक हुंडी कर लेता है, उस शाखाका मैनेजर रोने क्यों बैठे? उसका कर्तव्य तो मालिकका काम सुचारु रूपसे करना है, चाहे मालिक हुंडी करे या हुंडी भेजे। उसका काम तो यही है कि उसके किसी काममें त्रुटि न हो और वह मालिककी किसी चीज-पर अपना स्वामित्व न माने। त्रुटि करना 'नमकहरामी' है और मालिककी चीजपर अपना स्वामित्व मानना 'बेईमानी' है। चतुर और ईमानदार मैनेजरकी भाँति अपने हिस्सेका कर्तव्य-पालन करना ही कर्तव्य है। मालिकके विधानपर नाराज होकर हमें उनकी दूसरी उन्नत शाखासे द्वेष न करना चाहिये। किसी भी शाखासे द्वेष करना मालिकसे ही द्वेष करना है; क्योंकि वह मालिककी ही है। उसकी

हानि मालिककी हानि है और लाभ मालिकका लाभ है। अतएव ईमानदार और श्रेष्ठ पुरुषका तो यही धर्म है कि वह मालिककी प्रत्येक शाखा-दूकानोंकी उन्नतिमें परम आनन्दित हो और यथासाध्य उनकी उन्नतिमें सच्चे दिलसे सहायता भी करे। हाँ, अपने हिस्सेकी शाखाकी भी इसी प्रकार उन्नति चाहे, उत्साहपूर्वक निर्दोष प्रयत्न करे और इसके लिये मालिकसे कभी कह भी दे तो आपत्ति नहीं है। इसके विपरीत मालिककी दूसरी दूकानोंकी उन्नति देखकर जलना और उनका अनिष्ट चाहना तो स्वामीसे ही द्रोह करना और उन्हींका अनिष्ट चाहना है। इसी प्रकार यह विश्व उस विश्वनाथ परमात्माकी दूकानोंसे भरा देश है। प्रत्येक व्यक्ति, परिवार, समाज, देश और लोक उसीकी एक-एक दूकान है और हम सभी उसके सेवक हैं। हमारा कर्तव्य परस्पर सबकी उन्नति चाहना और प्रत्येककी उन्नतिमें प्रसन्न होना ही है। प्रत्येककी उन्नति हमारी ही उन्नति है; क्योंकि हम सभी उस एक ही प्रभुके सेवक हैं। जो यह चाहता है कि मैं, मेरा समाज, मेरा सम्प्रदाय, मेरी जाति, मेरा देश और मेरा लोक उन्नत हो और दूसरोंकी अवनति हो जाय, वे गिर जायँ। अथवा जो दूसरोंकी उन्नति देखकर जलता है और उन्हें गिराकर अपनी उन्नति चाहता है वह यथार्थमें कभी उन्नत और सुखी नहीं हो सकता। वह तो स्वामीका कोपभाजन होकर दुखी ही होता है, अतएव सब कुछ भगवान्‌का मान-जानकर सबकी उन्नतिमें ही अपनी उन्नति मानना चाहिये और सच्चे हृदयसे भगवान्‌से विनम्र प्रार्थना करनी चाहिये—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

'भगवन् ! सब सुखी हों, सब (तन-मनसे) नीरोग हों, सब कल्याणका साक्षात्कार करें । दुःखका अंश किसीको प्राप्त न हो ।'

पर-मत-सहिष्णुता

'अपने मतसे विरुद्ध मत रखनेवाले मनुष्यों, सम्प्रदायों या जातियोंसे कोई द्वेष न रखकर सबमें प्रेम रखना' पर-मत-सहिष्णुता है । संसार प्रकृतिका कार्य है, प्रकृति विषम होकर ही जगत्को उत्पन्न करती है । इसीलिये जगत्में किसीकी भी आकृति, स्वभाव, रुचि सर्वथा एक-सी नहीं है । जिनको हम सब बातोंमें सोलहों आने एक-सा देखते हैं, उनमें भी कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य है । यही संसारका सौन्दर्य है । अपनी प्रकृतिके द्वारा वह अरूप रूप ही अपने नाना रूपोंको विकसित कर नाना भावोंमें खेल रहा है । जो सबको सर्वथा एक-सा बना देने या देखनेका व्यर्थ प्रयास करते हैं, वे भूल करते हैं । सब एक-से कभी न हुए, न हो सकते हैं । परंतु इन सबका जो आधार है, प्राण है, आत्मा है, सबमें समाया और छाया हुआ जो सब कुछ देखता, सुनता और सबके साथ मिलकर सदा खेलता है वह अवश्य ही 'एक' है । नाना रूपों और नाना भावोंमें जो उस नित्य सर्वगत, अपरिवर्तनशील, अविनाशी, अचल, एक केवल परमात्माको देखता है वही यथार्थ देखता है । न तो प्रकृतिकी विचित्रता कभी मिट सकती है और न वह एक ही अनेक हो सकता है । जगत्में रुचिवैचित्र्य रहेगा ही । जब हमें अपनी अलग रुचि रखनेका अधिकार है तब दूसरेको क्यों नहीं होना चाहिये । हम चाहते हैं, सब हमारे ही मतको मान लें, इसी प्रकार दूसरे भी तो चाह सकते हैं; हम अपने

मतको सर्वोत्तम और कल्याणकारी समझते हैं, इसी प्रकार दूसरे भी समझते हैं; हम अपने इष्टके स्वरूपको सत्य समझते हैं, इसी प्रकार दूसरे भी समझते हैं; फिर झगड़ा क्यों ? झगड़ा इसीलिये होता है कि हम दूसरोंके मतको, सिद्धान्तको, उनके इष्टको सहन नहीं कर सकते। हम चाहते हैं कि सभी एक स्वरसे हमारी बात मान लें। इसीसे झगड़ा, मार-पीट और खून-खराबी होती है। पर विचार करना चाहिये कि यदि हम यह मानते हैं कि हम जिन भगवान्‌को मानते हैं, वे भगवान् हमारे ही हैं, दूसरोंके नहीं हैं, तो हम अपने अविच्छिन्न और असीम भगवान्‌को बहुत ही सीमित और एक देशवासी बना लेते हैं। इसलिये हमें यह मानना चाहिये कि हमारे ही भगवान्‌को दूसरे लोग भिन्न-भिन्न नामों, रूपों और भावोंसे पूजते हैं। सत्य एक है, भगवान् एक है, उन्हीं एककी अपनी-अपनी रुचिके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारसे पूजा होती है। हमारे ही राम कहीं विष्णुरूपसे, कहीं कृष्णरूपसे, कहीं देवीरूपसे, कहीं ब्रह्मके भावसे, कहीं खुदाके नामसे और कहीं परमपिताके नामसे पूजित होते हैं। हमारे ही श्रीकृष्णको कोई शिव कहते हैं, कोई ब्रह्मा कहते हैं, कोई इन्द्र कहते हैं, कोई सूर्य कहते हैं, कोई गणेश कहते हैं, कोई बुद्ध कहते हैं, कोई कर्म कहते हैं और कोई अटल नियम कहते हैं। मतलब यह कि दूसरा कोई महेश्वर है ही नहीं। हमारा वह प्यारा महेश्वर इतना महान् और इतना बहुरूपिया है कि नाना प्रकारके रूपोंमें सर्वत्र वही पूजित होता है। ऐसा मान लेनेपर कहीं कोई झगड़ा नहीं रहेगा। रामके उपासक देवीके उपासकको देखकर प्रसन्न होंगे, शिवके पूजक श्रीकृष्णके उपासकको देखकर फूले न समायेंगे, निर्गुणके उपासक सगुणकी पूजामें आनन्द लाभ करेंगे और सगुणके उपासक

अव्यक्त निर्गुणकी उपासनामें निरतिशय आनन्दलाभ करेंगे। सबमें उस एक बहुरूपियेको देख-देखकर उस प्राणाराम, प्रियतम, हृदयबन्धुकी माधुरी छबिको निरख-निरखकर सब सर्वदा प्रसन्न होंगे।

जिस प्रकार एक ही भगवान् अनेक रूपोंमें पूजित होते हैं, उसी प्रकार उनकी पूजाके भी अनेकों 'प्रकार' होना उचित ही है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है कि अपने-अपने कर्मोंद्वारा सबको हमारी पूजा करनी चाहिये। सबके कर्म एक-से कभी हो नहीं सकते, अतएव पूजाका प्रकार भी कभी एक नहीं हो सकता। हमें तो यह देख-देखकर प्रसन्न होना चाहिये कि वह रँगीला खिलाड़ी कितने नये-नये स्वाँग धारण करके कैसे नित्य नये अभिनय कर रहा है और किस प्रकार हम सब उसे भिन्न-भिन्न रूपोंमें पूजकर उसके महत्त्वको बढ़ा रहे हैं, हमारे प्रियतमके उपासक—भक्त, सेवक होनेसे सभी हमारे प्रिय हैं, सभी हमारे आत्मीय हैं, प्यारेके प्यारे होनेके नाते सभी हमारे प्राणोपम हैं। इस प्रकारके सत्य और शुद्ध विचारोंसे दूसरोंके मतोंको सहन करना चाहिये।

एक बात और है; हम यह भी नहीं कह सकते कि हमारा ही मत ठीक है और सबके ठीक नहीं हैं। परंतु इतना अवश्य ही उचित है कि हम जिस वस्तुमें सच्चे हृदयसे लाभ समझते हैं, हमारे निर्भ्रान्त अनुभवमें जो वस्तु–सिद्धान्त सबके लिये लाभकारी है, उसका हम दूसरोंमें प्रचार करें—उसके लाभ दूसरोंको प्रेमपूर्वक समझावें, ऐसा करना कर्तव्य है, परंतु जबरदस्ती नहीं होनी चाहिये। अपने मतके प्रचारका सुन्दर तरीका यह है कि हम दूसरेके मतका आदर करें,

दूसरेके मतको सम्मानपूर्वक सुनें और उसमें जो-जो बातें हमें अच्छी मालूम हों, (यह याद रखना चाहिये कि अच्छी-बुरी बातें सभीमें होती हैं, जगत्‌में कोई भी सर्वथा दोषपूर्ण नहीं है और कोई भी सर्वथा निर्दोष नहीं है। त्रिगुणमयी प्रकृतिसे निर्मित संसारमें न सर्वथा तमका अभाव है और न सत्त्वका।) उनकी प्रशंसा करें, उनका सच्चे हृदयसे सत्कार करें और ग्रहण करने योग्यका ग्रहण भी करें। इस प्रकार करते रहनेसे दूसरा मत माननेवालेके मनमें हमारे प्रति यह विश्वास हो जायगा कि यह द्वेषी नहीं है, पक्षपाती नहीं है, सत्यका पुजारी है, सत्यका सेवक है; अवश्य ही उसके मनमें विश्वास पैदा करके उसे अपने मतमें लानेकी छलयुक्त भावनासे केवल बाह्यरूपसे ही उसके मतकी अच्छी बातोंका आदर-सत्कार या प्रशंसा नहीं करनी चाहिये। जो कुछ करें सच्चे हृदयसे। कपट होगा तो वह आगे चलकर खुल ही जायगा। अस्तु, सद्व्यवहारसे जब हमारी और उसकी, मतभेद रहनेपर भी मैत्री हो जायगी तब वह हमारी भी सुनेगा। उस समय यथावसर नम्रता, विनय और प्रेमके साथ युक्तिपूर्ण शब्दोंमें—उसके मतका खण्डन करनेके भावसे नहीं—सिर्फ अपने मतके प्रतिपादनार्थ अपने निश्चित अनुभवयुक्त मतकी महत्ता, उसका मर्म उसके सामने रक्खे। परंतु इस आग्रहसे नहीं कि वह हमारे मतको मान ही ले। सत्यका स्वरूपमात्र सामने रक्खा जाय। ऐसा होगा तो सत्य सिद्धान्तको किसीके लिये भी स्वीकार करना सहज हो जायगा। सत्य सिद्धान्तके स्वीकार न करनेमें प्रधान दो बाधाएँ हैं—एक दृष्टिभेद, दूसरा दुराग्रह। दृष्टिभेदको दूर करनेके लिये सिद्धान्तका युक्तिपूर्ण प्रतिपादन करना चाहिये;

परंतु वह प्रतिपादन तभी सफल होगा, जब हमारे सत्य और प्रेमपूर्ण व्यवहारसे–हमारे मित्रतापूर्ण सदाचरणसे—हम उसके मनमें अपने लिये एक सुन्दर और सुदृढ़ स्थान बना लेंगे। दोनों हाथोंसे ताली बजती है, एकसे कदापि नहीं । इसी प्रकार दूसरेकी बात सुनने-सुनाने और आवश्यकतानुसार माननेका मन पहले अपना बन जायगा; तभी हमारी बात हम उसे सुना सकेंगे । विरुद्ध मतवादीको देखते ही जहाँ घृणा और द्वेष जाग उठता है, तिरस्कारकी तीव्र भावना पैदा हो जाती है, चेहरे और आँखोंमें रूखापन, परायापन, कड़ाई और द्वेषके विकार प्रकट हो जाते हैं वहाँ तो लड़ाई ही होती है ।

हम यदि अपने मतका आदर चाहते हैं तो हमें पहले दूसरोंके मतका आदर करना चाहिये और वस्तुतः सभी मत अधिकारिभेदसे आवश्यक होते हैं । बहुत बुरी नास्तिकता भी प्रायः ईश्वरके संकेतसे ही फैलती है और वह भी, सत्यके साथ मिले हुए असत्यके कूड़ेको ढूँढ़-ढूँढ़कर जला देती है और इस प्रकार अविनश्वर और नित्य 'सत्य' को और भी पवित्र रूपमें—उज्ज्वल रूपमें प्रकट करनेके कार्यमें सहायता करती है। अतएव अपने दुराग्रहरहित सत्य सिद्धान्तपर दृढ़तासे डटे रहते हुए ही दूसरेके सिद्धान्तका आदर करना चाहिये और उसमें भी भगवान्के रूपकी झाँकी कर, उसे भी लीलामय बहुरूपिये प्राणारामका एक स्वाँग—एक लीलावेष समझकर आनन्द मानना चाहिये और अपने प्रियतमको उस रूपमें सजाने-

वाले उस भक्तका भी कृतज्ञ ही होना चाहिये, जिसने हमें उसका यह नवीन रूप दिखलाया, चाहे वह रूप भयानक ही हो और उसको सजानेवाला अपनेको ईश्वरका विरोधी ही क्यों न कहता हो ? क्योंकि वह विरोध करके भी हमारे प्राणारामको सजाता ही है !

(२)

सेवा

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

जगत्‌के सभी चराचर जीव भगवान्‌के स्वरूप हैं और मैं सबका सेवक हूँ। इस पवित्र और सत्य भावसे मनुष्यमात्रको भगवान्‌की सेवा करनेका अधिकार और सौभाग्य प्राप्त है। जिसके पास जो साधन है उसी-के द्वारा उसको हर समय सर्वव्यापी भगवान्‌की यथायोग्य सेवा करनी चाहिये। यह बात नहीं कि सेवा केवल धन या तनसे ही होती है, सेवा करनेके लिये सेवाभावसे भरा हुआ मन चाहिये। वस्तुतः यह जीवन है ही सिर्फ सेवाके लिये। मनुष्य अपने-अपने स्वकर्मरूपी सामग्रीसे ही भगवान्‌की सेवा कर सकता है। किसी भी मनुष्यको यह नहीं मानना चाहिये कि मुझमें सेवा करनेकी शक्ति या योग्यता नहीं है। जब जड वृक्ष और ज्ञानहीन पशु भी अपने शरीरके द्वारा जगत्‌की सेवा करते हैं तब चेतन और विवेकसम्पन्न मनुष्य सेवा करे इसमें आश्चर्य ही क्या है ? सेवाका भाव होना चाहिये। पुत्र माता-पितारूपी भगवान्‌की, माता-पिता पुत्ररूपी भगवान्‌की, शिष्य गुरुरूपी भगवान्‌की, गुरु

शिष्यरूपी भगवान्‌की, पत्नी पतिरूपी भगवान्‌की, पति पत्नीरूपी भगवा की, प्रजा राजारूपी भगवान्‌की, राजा प्रजारूपी भगवान्‌की, हाकि न्याय प्रार्थीरूपी भगवान्‌की, दूकानदार ग्राहकरूपी भगवान्‌की, डाक रोगीरूपी भगवान्‌की, वकील मवक्किलरूपी भगवान्‌की, नौकर मालिकरू भगवान्‌की और मालिक नौकररूपी भगवान्‌की—सभी लोग अपने-अप निःस्वार्थ विहित कर्मोंद्वारा सब समय सर्वत्र सब प्रकारसे भगवान्‌ सेवा कर सकते हैं ।

सच्चे सेवकके हृदयमें केवल एक ही भावना काम करती है कि जिस किसी भी प्रकारसे अधिक-से-अधिक और उपयोगी सेवा क सकूँ । उसको सेवा करनेमें ऐसा विलक्षण सन्तोष और महान् सुख मिलता है कि वह सेवाको छोड़कर अन्य किसी भी वस्तुकी इच्छा नहीं करता । इच्छा तो दूर रही, अनिच्छासे अनायास मिलनेपर भी ग्रहण नहीं करता । सांसारिक विनाशी वस्तुओंका तो उसकी नजरमें मूल्य ही क्य रह जाता है, जिस दुर्लभ मुक्तिके लिये बड़े-बड़े त्यागी, तपस्वी सद लालायित रहते हैं और जन्म-जन्मान्तरतक कठोर साधन किया करते हैं उस योगियोंके परम ध्येय मोक्षको भी वह भक्त—सेवक भगवत्-सेवाके सामने तुच्छ समझता है और लापरवाहीके साथ उसका तिरस्कार कर देता है । श्रीभगवान् कपिल कहते हैं—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

(श्रीमद्भा० ३ । २९ । १३)

‘मैं अपने उन सेवकोंको सालोक्य[1], सार्ष्टि[2], सामीप्य[3],

---

१. भगवान्‌के नित्यधाममें निवास । २. भगवान्‌के समान ऐश्वर्य-भोग । ३. भगवान्‌की नित्य समीपता ।

सारूप्य[1] और एकत्वरूप[2] मुक्ति देना चाहता हूँ, परंतु वे मेरे सेवक मेरी सेवाको छोड़कर उनको लेना ही नहीं चाहते ।'

उनके मनमें यही भावना उठती है कि अवश्य ही हमारी सेवामें कोई खास त्रुटि है, हम सेवाका कोई बदला चाहते हैं, या सेवासे घबराते हैं । तभी तो भगवान् हमें ऐश्वर्यमयी या कैवल्यमयी मुक्ति देना चाहते है । यदि हमारे मनमें ऐसी कोई बात छिपी नहीं होती तो भगवान् क्यों मुक्ति देना चाहते । ऐसी अवस्थामें भक्त सेवक और भी सकुचाता है और उसकी वह सकुचाहटरूपी अग्नि उसके सेवारूपी स्वर्णको और भी विशेष उज्ज्वल, शुद्धतर और मूल्यवान् बना देती है । यह बात ध्यानमें रहनी चाहिये कि ज्यों-ज्यों सेवासे मिलनेवाले फलोंका सेवक त्याग करता है, त्यों-ही-त्यों उसकी सेवा अधिकाधिक कान्तिमय होती जाती है । त्याग ही सेवाका जीवनाधार है । जिस सेवामें त्याग नहीं होता, वह सेवा-का जीवनशून्य कंकाल है, सेवा नहीं । भगवान् श्रीनृसिंहदेवने जब प्रह्लादसे वर माँगनेको कहा, तब प्रह्लादजी बोले—

मा मां प्रलोभयोत्पत्त्या सक्तं कामेषु तैर्वरैः ।
तत्सङ्गभीतो निर्विण्णो मुमुक्षुस्त्वामुपाश्रितः ॥
भृत्यलक्षणजिज्ञासुर्भक्तं कामेष्वचोदयत् ।
भवान् संसारबीजेषु हृदयग्रन्थिषु प्रभो ॥
नान्यथा तेऽखिलगुरो घटेत करुणात्मनः ।
यस्य आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् ॥

(श्रीमद्भा० ७ । १० । २-४)

---

१. भगवान्‌का-सा स्वरूप प्राप्त होना और २. भगवान्‌में एक हो जाना या ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त कर लेना ।

'भगवन् ! मैं तो स्वभावसे ही विषयोंमें आसक्त हूँ, मुझे वरदा की बात कहकर न ललचाइये। विषयोंके सङ्गसे डरकर और उन घबराकर मैं समस्त बन्धनोंसे मुक्त होनेके लिये आपकी शरण आया हूँ प्रभो ! हृदयकी अज्ञानग्रन्थिके समान बन्धनके कारण और संसारके बीजरूपी विषयोंकी ओर सेवकको लगानेकी बात (वरदान माँगनेके बहाने) आपने केवल इस दासकी इस परीक्षाके लिये ही कही कि देखें इसमें सेवकके लक्षण हैं या नहीं। नहीं तो जगद्गुरो ! आप इतने दयालु होकर मुझको ऐसी प्रेरणा क्यों करते। परंतु मेरे नाथ, जो सेवक (सेवाके बदलेमें) आपसे कुछ पानेकी आशा रखता है, वह सेवक नहीं है, वह तो लेन-देन करनेवाला बनिया है।'

आगे चलकर प्रह्लादजीने कहा कि—

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥

(श्रीमद्भा० ७।१०।७)

'वर देनेवालोंमें श्रेष्ठ ! आप मुझे मेरा मनमाना वर देना ही चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि अबसे मेरे मनमें कामनाका कभी कोई अङ्कुर ही उत्पन्न न हो।'

भगवान्‌को भी ऐसे सर्वथा निष्काम सेवकोंके वशमें होना पड़ता है। इसी भक्तवश्यताके कारण—सेवककी वाणीको सत्य करनेकी इच्छासे भगवान्‌को खंभा फाड़कर उसमेंसे प्रकट होना पड़ा।

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं
व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।

अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम् ॥
(श्रीमद्भा० ७ । ८ । १८)

'भगवान् सर्वत्र व्याप्त हैं, इस स्तम्भमें भी व्याप्त हैं ।' अपने दासकी कही हुई इस बातको प्रत्यक्ष सत्य कर दिखानेके लिये भगवान् श्रीहरि हिरण्यकशिपुकी सभामें खंभेसे ऐसे अद्भुतरूपमें प्रकट हुए, जो न पूरे मनुष्यके आकारका था और न सिंहके आकारका !

गोपियोंके घरोंमें आप नाचते फिरे और उनके शुद्ध मनोरथके अनुसार उन्हें सुख पहुँचानेके लिये छिप-छिपकर माखन खानेकी आनन्द-भरी लीलाएँ आपने कीं और बतलाया अपनेको उनका कर्जदार। आप फरमाते हैं—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३२ । २२)

'प्रियाओ ! तुमने बड़ी कठिनतासे टूटनेवाली गृहकी बेड़ियोंको तोड़कर मेरी जो निर्दोषरूपसे सेवा की है, तुम्हारे इस सदाचरणका बदला मैं देवताओंकी दीर्घ आयुमें भी नहीं चुका सकता। तुम ही अपनी उदारतासे मुझे ऋणमुक्त कर सकती हो ।'

भगवान् श्रीरामजी आँखोंमें प्रेमके आँसू भरकर गद्गद वाणीसे सेवकशिरोमणि हनूमान्‌जीके प्रति कहते हैं —

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनु धारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। करि बिचार देखेउँ मन माहीं॥

श्रीभरतजीकी सेवाका तो इतना महत्त्व है कि भरद्वाज-सरीखे ऋषि भगवान्‌के दर्शनका फल श्रीभरतजीका दर्शन होना मानते हैं और भगवान्‌के चित्तसे तो भरतकी स्मृति कभी हटती ही नहीं। सारा जगत् भगवान्‌का स्मरण करता है और भगवान् स्वयं श्रीभरतजीका!

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥

यह भगवान्‌की निष्काम और अनन्य सेवाकी महिमा है। परंतु भक्त-सेवक इस महत्त्वसे प्रभावित होकर इस इच्छासे भगवान्‌की सेवा नहीं करता कि भगवान् मेरे कर्जदार बनें और मेरा स्मरण करें। उसका तो स्वभाव ही भगवान्‌की सेवा करनेका होता है। सेवाके बिना उससे रहा नहीं जाता। वह सेवाके लिये ही सेवा करता है और सदा अपनी सेवामें त्रुटियाँ देखता हुआ सेवाको उत्तरोत्तर त्रुटिरहित, सर्वाङ्गपूर्ण बनानेकी चेष्टा किया करता है। परंतु उसकी यह चेष्टा कभी सफल होती ही नहीं, क्योंकि उसकी यह धारणा अटल रहती है कि मैं सेवा करनेके लिये सर्वथा अयोग्य हूँ। यह तो दयामय भगवान्‌की कृपा है, जो मुझ-जैसे ढीठ, आलसी, सेवाविमुख, प्रतिकूल आचरण करनेवाले, अभिमानी, सेवाको भार समझनेवाले, नीच स्वार्थसे युक्त और अयोग्यताओंसे भरे हुए प्राणीको अपनी सेवाका सुअवसर देकर धन्य करते हैं और मेरी सेवाभावसे शून्य अयुक्त चेष्टाओंको सेवा मान लेते हैं। वह कहता है कि मैं भगवान्‌की सेवा करनेलायक नहीं हूँ। मैं तो उनकी सेवक-मण्डलीका कलंक हूँ, इसलिये भगवान् मुझे सेवासे अलग कर दें तो

ही भगवान्‌की शोभा है। परंतु भगवान् उसे कभी अलग करते ही नहीं; क्योंकि वास्तवमें वह अलग होना चाहता नहीं। उसकी चाह क्या है, इस बातको भगवान् जानते हैं। इसलिये वह संकोचमें ही डूबा रहता है और भगवान्‌की सेवक-वत्सलता, उनके स्नेह और प्रेमपर क्षण-क्षणमें मुग्ध होता हुआ, आनन्दके आँसू बहाता हुआ नित-नये उत्साह और उमंगके साथ भगवान्‌की सेवामें लगा रहता है। परंतु अपनी अयोग्यताका खयाल करके वह चाहता है कि भगवान् भी मेरी चेष्टाओंको न जान पावें तो ही अच्छा है। इसलिये वह यथासाध्य बहुत छिप-छिपकर सेवा करता है। वह अपनेको सेवकरूपसे प्रकट करनेमें शरमाता है, इसलिये बड़े जतनसे छिपाता है। उसे यह डर भी रहता है कि अकारण ही कृपा करनेवाले दीनवत्सल भगवान् कदाचित् यह जान लेंगे कि यह कुछ करता है तो अपने स्वभाववश उसे बहुत बड़ी सेवा मानकर मुझे सम्मान देने लगेंगे और यदि मैं उस सम्मान-को ग्रहण कर लूँगा—यदि मुझे उससे रस मिल जायगा तो मैं सेवा-सुखसे वञ्चित हो जाऊँगा। वे मुझे कोई वस्तु देना चाहेंगे और यदि मैं उसे ले लूँगा तो सेवामें तो कलंक लगेगा ही, मेरी लोभवृत्ति जाग उठेगी, जो मुझे सेवाके क्षेत्रसे हटाकर विषयोंका दास बना देगी।

अन्तर्यामी भगवान् भी ऐसे संकोची भक्तका संकोच बनाये रखनेकी लीला करके ही सुख मानते हैं; क्योंकि सेवककी रुचि रखना ही उनका स्वभाव है। 'राम सदा सेवक रुचि राखी।' परंतु ऐसे संकोची सेवककी सेवासे मुग्ध होकर कभी-कभी

वे स्वयं बड़े संकोचमें पड़ जाते हैं। विचारते हैं इसे क्या दिया जाय। जब वह कुछ भी नहीं स्वीकार करता, तब उसे अपनी दुर्लभ प्रेमा-भक्ति देते हैं और उसके वशमें होकर स्वयं उसके हाथकी कठ-पुतली बनकर नाचना चाहते हैं; परंतु वह हठीला सेवक भगवान्‌की इस इच्छाको भी प्रायः पूरी नहीं होने देता। अस्तु, यह तो सेवकका और सेवाका महत्त्व हुआ। अब सेवाके स्वरूपपर कुछ और विचार करना है।

सेवा करनेकी इच्छा सबमें होनी चाहिये और प्रत्येक सेवा करनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको यह चाहिये कि वह स्वार्थसे सर्वथा अलग रहे। सेवाको ही 'परम स्वार्थ' समझे, अन्य किसी प्रकारका भी स्वार्थ सेवामें कलंकरूप है। स्वार्थी मनुष्य यथार्थ सेवा कभी नहीं कर सकता। वह जहाँ अपने स्वार्थकी सिद्धि होते देखता है, वहीं सेवाका स्वाँग करता है और वह भी तभीतक जबतक स्वार्थ सिद्ध नहीं हो जाता, या होनेकी सम्भावना रहती है। जहाँ स्वार्थका कोई सरोकार नहीं होता, वहाँ तो वह फिरकर ताकता भी नहीं। उसे सेवाकी परवा नहीं होती, स्वार्थकी होती है। इसलिये स्वार्थी मनुष्य सेवा नहीं कर सकता।

सच्चे सेवकको सेवा करनेमें पद-पदपर आनन्द मिलता है। वह समझता है कि इससे मेरे प्रियतम प्रभुको सुख मिलता है और 'प्रियतमके सुखको ही अपना परम सुख माननेवाला, वह प्रेमी सेवक प्रियतमको सुख पहुँचानेके लिये अपने ऊपर आनेवाले किसी भी भयानक-से-भयानक कष्टकी परवा नहीं करता; बल्कि वह उस

विपत्तिको परम सुख मानकर वरण कर लेता है, उसे सिर चढ़ाता है, हृदयसे लगाता है। उसका यह निश्चय है कि जो कष्ट मेरे प्रियतमके सुखका साधन है, वही वस्तुतः मेरे लिये परम सुखकी सामग्री है। इसी भावनासे, संसारमें देखा जाता है कि लोग अपने प्रियतम विषयके लिये हँसते-हँसते प्राणोंकी बलि चढ़ा देते हैं। भयंकर मृत्युको आलिङ्गन करनेके समय भी वे संतोष और तृप्तिजनित आनन्दकी मस्तीमें झूमते हुए अपनी सच्ची भावना और मधुर मस्तीकी महकसे सबको मुग्ध कर डालते हैं। अवश्य ही उनका वह प्रियतम विषय विभिन्न रुचि, स्थिति और भावनाके अनुसार अलग-अलग होता है। किसीका वह प्रियतम विषय भगवान् होता है, किसीका धर्म, किसीका देश, किसीका गरीब जनता और किसीका कोई व्यक्तिविशेष। ऐसी मृत्युकी वे लोग चाह किया करते हैं और उसको अपना सौभाग्य समझते हैं। आनन्द तो उन्हें अपनी इस मनचाही मौतमें इतना मिलता है कि जहाँ साधारण लोग मृत्युके नामको सुनकर काँप उठते हैं, वहाँ वे मृत्युके मतवाले प्रेमी हर्षसे नाच उठते हैं और आनन्दकी अधिकतासे उनके शरीरमें रक्त और मांस बढ़ जाता है। अवश्य ही यह बात पाठकोंको ध्यानमें रखनी चाहिये कि इनमेंसे किसी भी निमित्तको लेकर जो मृत्यु केवल भगवान्‌के लिये होती है, वही सबसे ऊँची, निर्दोष तथा भविष्यमें कल्याणमयी शुभ गति देनेवाली होती है। जहाँ राग-द्वेष, वैर-विरोध और रोष-दोषसे हृदय भरा रहता है, वहाँ उसका फल भी तदनुकूल ही होता है।

जो लोग बदला पानेकी इच्छासे सेवा करते हैं या सेवा करके उसका बदला चाहते हैं, उनकी सेवा भी यथार्थ सेवा नहीं

है । वह तो मनोरथसिद्धिका एक साधन है । जो थोड़ी सेवाके बदले बहुत बड़ा फल चाहते हैं वे सेवाका महत्त्व घटाते हैं । सेवा करनी चाहिये और अपनी शक्तिभर सेवामें कोई कमी नहीं आने देनी चाहिये; परंतु वह सेवा करनी चाहिये इसीलिये कि उससे सेवा करनेकी शक्ति और भी बढ़े । पद-पदपर सेवाके फलकी खोज करनेवाला मनुष्य सेव्य (जिसकी सेवा की जाती है) की आवश्यकताको भूल जाता है । वह अपनी आवश्यकताकी पूर्तिमें ही लगा रहता है । इससे कहीं-कहीं तो उसके द्वारा की जानेवाली सेवा सेव्यके लिये दुःखका और नुकसानका कारणतक बन जाती है, जिसका परिणाम सेवा करनेवालेके लिये भी बुरा ही होता है ।

सेवा वह है जिसमें सेव्यकी निर्दोष इच्छा या रुचिका ही अनुसरण हो, अपनी इच्छाका नहीं । मालिक कुछ और चाहता है और हम कुछ और करते हैं और उसीको सेवा मानते हैं, यह तो सेवा नहीं है । सेवक-सिरमौर श्रीभरतजी स्वयं वनमें भगवान् श्रीरामजीके साथ रहना चाहते हैं या श्रीरामजीको अवध लौटा देना चाहते है, इसीलिये चित्रकूट गये हैं, परंतु सेवकका धर्म बतलाते हुए आप कहते हैं कि 'जो सेवक स्वामीको संकोचमें डालकर अपना हित चाहता है, उसकी बुद्धि बहुत ही नीच है । सेवकका कल्याण तो सुखका समस्त लोभ छोड़कर केवल स्वामीकी रुचिके अनुकूल सेवा करनेमें ही है । जो सेवक स्वामीकी आज्ञाको सुनकर भी वैसा न करके उसका कोई उत्तर देता है उस सेवकको देखकर तो लज्जा भी लजा जाती है ।'

जो सेवकु साहिबहि सँकोची । निज हित चहइ तासु मति पोची ॥
सेवक हित साहिब सेवकाई । करै सकल सुख लोभ बिहाई ॥
उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई । सो सेवकु लखि लाज लजाई ॥

भरतजी सच्चे सेवक थे, वे श्रीरामकी रुचिके प्रतिकूल कुछ कैसे कहते । उन्होंने रामकी रुखको सिर चढ़ाया और वियोगकी असह्य अग्निमें चौदह वर्षतक जलना स्वीकार करके वही किया जो श्रीरामकी रुचिके अनुकूल था । अतएव सेवा वही है जो स्वामीके—सेव्यके अनुकूल हो । परंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि रोगीकी सेवा करनेवाला सेवक रोगीकी भ्रान्त रुचिको रखनेके लिये उसे कुपथ्य देकर मार डाले । इस दृष्टिसे सच्ची सेवा वही है जिसमें सेव्यका (जिसकी सेवा की जाय उसका) हित हो और परिणाममें उसे सुख मिले । ऐसी सेवासे सेवकको तो सुख मिलता ही है, कहीं-कहीं तो सेव्यके हितकी प्रबल आकांक्षाके कारण बलात्कारसे उसके विपरीत आचरणके द्वारा उसकी सेवा की जाती है । ऐसी सेवाके लिये छोटे बच्चेके प्रति किये जानेवाले माताके ममताभरे कठोर आचरणोंका उदाहरण दिया जा सकता है ।

सेवक सावधान होता है, वह ऐसा कोई काम नहीं करता जिससे सेव्यका कुछ नुकसान हो या परिणाममें उसे दुःख मिले । सच्चे सेवककी दृष्टि भी ऐसी निर्मल हो जाती है कि उसको परिणामका यथार्थ दृश्य प्रायः दीख जाता है । जहाँ राग, द्वेष, स्वार्थ, अभिमान और फलकी कामना आदि दोष होते हैं, वहीं दृष्टि यथार्थ नहीं देखती । सच्चे सेवकमें इन दोषोंका अभाव रहता है, इससे उसकी दृष्टि अनावृत होनेके कारण यथार्थ देख सकती है ।

सच्चा सेवक निष्काम और अभिमानरहित होकर ही सेवा करता है। वह जिसकी सेवा करता है, उसपर अपना कोई अधिकार नहीं मानता, उसे कोई अहसान नहीं जनाता, न उसके द्वारा धन्यवाद प्राप्त करने या कृतज्ञता पानेकी कोई जरूरत समझता है। वह भर-सक तो उसको अपनी सेवाकी बात जानने ही नहीं देता। यदि ऐसी स्थिति नहीं होती और उसकी की हुई सेवा प्रकट हो जाती है तो वह सद्भावपूर्वक विनम्र भावसे यही कहता है कि 'भगवान्ने आपके किसी प्रारब्धवश प्राप्त होनेवाले सुखमें मुझको निमित्त बनाया, यह मुझपर उनकी कृपा है और आपने जो मेरे द्वारा होनेवाली चेष्टाको—जो भगवान्की शक्ति और प्रेरणासे ही हुई है—अपनी सेवा समझा और उसे स्वीकार किया, इसके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ।' वह केवल ऐसा कहता ही नहीं, वस्तुतः ऐसा ही मानता है।

जो मनुष्य इस भावनासे सेवा करता है कि 'आज मैं इनकी सेवा करता हूँ, कल प्रसङ्ग आनेपर मेरी सेवाके प्रतिफल-रूप ये मुझे अपना स्वामी बना लेंगे।' बहुधा संसारमें ऐसी बातें देखी जाती हैं। किसी मेम्बरीके लिये वोट चाहनेवाले लोग तो अक्सर यही कहा करते हैं कि हमने अमुक-अमुक सेवा की थी, आज उसके लिये हमें अपना प्रतिनिधि या अगुआ बनाना आपका धर्म है। ऐसा न होनेपर उनको क्षोभ होता है। गम्भीरताके साथ विचारकर देखा जाय तो यह पता लगता है कि सम्मान या ऊँचा पद पानेके लिये ही जो किसीकी सेवा की जाती है, किसीके नेता या स्वामी बननेके लिये ही—उसे आगे चलकर अपनेसे नीचा और अपना आज्ञाकारी बनानेके लिये ही नीचा

बनकर जो सेवा की जाती है, वह असली सेवा कदापि नहीं है।

अहसान जताना तो दूर रहा, सच्चा सेवक तो सेवा करके कभी यह कहता ही नहीं कि मैंने आपकी कोई सेवा की है। क्योंकि सच्ची सेवा अपने सुखके लिये ही होती है, जो सेवा करते समय सेवकको मिलता रहता है। वह किसी दूसरेको उपकृत करनेके लिये सेवा-धर्मको स्वीकार नहीं करता। स्वान्तः-सुखाय पालन किया हुआ सेवा-धर्म स्वाभाविक ही दूसरोंको सुख पहुँचानेवाला होता है और उससे लोगोंका सहज उपकार सधता है। सेवा करनेवाला अपना-पराया नहीं देखता। वह तो जीवमात्रकी सेवा करना अपना धर्म मानता है। जहाँ सेवाकी आवश्यकता होती है, वहीं वह अपने पास जो कुछ साधन होता है, उसके द्वारा सेवा करने लगता है। वह यह भी नहीं देखता कि मेरे द्वारा क्या सेवा होगी, उसे तो अपनी शक्तिभर सेवा करनेमें ही आनन्द मिलता है। क्या और कितनीका हिसाब करनेमें वह समय नहीं खोता; परंतु वह ऐसा भी नहीं करता कि अपनी सेवा दिखानेके लिये, किसी बड़ी और अच्छी सेवा करनेवालेके बीचमें पड़कर अपनी क्षुद्र चेष्टासे उसमें बाधा पहुँचा दे। सहायक हो सकता है तो होता है, बाधक नहीं होता। क्योंकि उसे सेवा करनी है, सेवक कहलाना नहीं है। ऐसी हालतमें वह जहाँ उसकी सेवाकी आवश्यकता होती है, वहीं उसको लगाता है और उसीमें अपनी सेवाकी सार्थकता समझता है।

सेवा करनेके बाद परिणामकी अनुकूलता-प्रतिकूलता देखकर

सेवक हर्ष-विषादमें नहीं डूबता। वह चाहता है फल अच्छा हो, परंतु उसको अपने हाथकी बात नहीं समझकर संतोष करता है। आपने एक रोगीकी सेवा-शुश्रूषा की। वह अच्छा हो जाता तो बहुत ही आनन्दकी बात थी; परंतु आपके अनेक जतन करनेपर भी वह मर गया। आपने भूकम्पमें टूटे हुए किसीके मकानको बनवा दिया, कुछ ही दिनों बाद बाढ़ उसे बहा ले गयी। ऐसी हालतमें अपनी सेवाको व्यर्थ हुई जानकर क्षोभ नहीं करना चाहिये। यद्यपि सफलतामें हर्ष और विफलतामें विषाद होना अज्ञानके कारण स्वाभाविक-सा हो गया है; परंतु सच्ची सेवामें इस हर्ष-विषादको स्थान नहीं है। वस्तुतः सेवकको सेवाके कार्यसे फुरसत ही नहीं मिलती, जिसमें वह अनुकूल-प्रतिकूल परिणामपर हर्ष-विषाद करे। वहाँ तो सेवा होनेमें ही आनन्द है और सेवा न बननेमें ही विषाद है। सेवा व्यर्थ कभी जाती ही नहीं। सेवा करते समय सच्चे सेवकको आनन्द मिलता ही है। ऐसा भी नहीं मानना चाहिये कि हमने जिस मनुष्यकी सेवा की वह सेवाके योग्य नहीं था। ऐसा माननेसे पश्चात्ताप होता है, जिससे उत्साहमें कमी आती है। यही धारणा करनी चाहिये कि हमारे स्वामी श्रीभगवान् ही सबमें हैं, सब भगवत्स्वरूप ही हैं, इसलिये सभी हमारी सेवाके पात्र हैं। हमको तो अपनी शक्तिके अनुसार किसीकी भी सेवा करनेमें अपना सौभाग्य मानना चाहिये।

परम सेवा वह है जिसके द्वारा मनुष्य विषयोंके जंजालसे छूटकर श्रीभगवान्‌की ओर लगता है। पहले मनुष्यको ऐसी सेवा करनेके योग्य बनना चाहिये और फिर अपने आचरण, स्वभाव,

बर्ताव, प्रेम और चेष्टाके द्वारा जगत्‌के जीवोंको भगवान्‌के सम्मुख करना चाहिये। यह याद रखना चाहिये कि भगवत्प्राप्तिमें ही दुःखोंकी सदाके लिये सर्वथा निवृत्ति और नित्य निर्विकार सनातन परम सुखकी प्राप्ति है। यही जीवके अनादिकालीन जीवनका परम ध्येय है। इस ध्येयकी प्राप्तिमें जो सहायक होता है, वही परम सेवा करता है।

अब संक्षेपमें सेवा करनेवालोंके लिये कुछ आवश्यक बातें साररूपमें लिखी जाती हैं, जिनको याद रखनेसे सेवा सुन्दर, सफल और कल्याणकारिणी हो सकती है।

१—सारा संसार भगवान्‌का स्वरूप है और हम अपने-अपने विहित कर्मोंद्वारा भगवान्‌की सेवा कर सकते हैं और वह हमें अवश्य करनी चाहिये।

२—जहाँ जिसको जिस वस्तुकी आवश्यकता हो, वहाँ उसको वह वस्तु अपने पास हो तो बिना किसी प्रत्युपकारकी इच्छाके आनन्दपूर्वक दे देना उसकी सेवा करना है। अवश्य ही वह वस्तु ऐसी होनी चाहिये, जिसके पानेपर उसका हित ही हो।

३—जहाँतक हो सके, सेवाको प्रकट न होने दो। प्रकट करनेकी चेष्टा मत करो। प्रकट हो जाय तो सकुचाओ और सच्चे मनसे उसका श्रेय भगवान्‌की कृपाको दो।

४—सेवा करके अभिमान न करो; जिसकी सेवा करते हो उससे कुछ चाहो मत, उससे किसी बातकी आशा न करो। वह हमारा कृतज्ञ हो, ऐसी कल्पना मनमें मत उठने दो। उसपर

कोई अहसान न जनाओ, उसपर अपना अधिकार मत मानो। उसके दोषोंको देखकर घबराओ मत। उसपर झुँझलाओ मत। तिरस्कार न करो।

५—सेवा करके विज्ञापन न करो। जिसकी सेवा की हो, उसपर बोझ मत डालो; नहीं तो, फिर तुम्हारी सेवा स्वीकार करनेमें उसे सङ्कोच होगा। और पिछली सेवाके लिये, जो उसने स्वीकार की थी, उसके मनमें पछतावा होगा, जिससे तुम्हारी सेवाका महत्त्व चला जायगा।

६—सेवा करनेके लिये अवसर प्राप्त होनेपर विशेष समय और शक्तिकी प्रतीक्षा न करो। उस समय जो कुछ शक्ति तुम्हारेमें हो, उसीके द्वारा तुरंत सेवा करो।

७—यों तो सभी प्राणी सेवाके अधिकारी हैं, और आवश्यकतानुसार प्रसन्नतापूर्वक सभीकी सेवा करनी चाहिये; परंतु बड़े-बूढ़ोंकी, माता-पिताकी, गुरुकी, संत-महात्माओंकी, सदाचारी ब्राह्मणोंकी, विधवा स्त्रीकी, अभावग्रस्त गृहस्थोंकी, दीन-दुखियोंकी, रोगियोंकी, अनाथ प्राणियोंकी और स्त्रियोंके लिये अपने पतिकी सेवा करना तो परम धर्म है। ऐसी सेवाका मौका मिलनेपर अपना सौभाग्य समझना चाहिये और शक्तिभर निर्दोष सेवा करनेसे कभी नहीं चूकना चाहिये।

८—सेवाकी आवश्यकता प्रतीत होनेपर यह मत सोचो कि हम जिसकी सेवा करते हैं वह कौन है—हमसे जातिमें, वर्णमें, पदमें, ऐश्वर्यमें या गौरवमें ऊँचा है या नीचा है। उसे परमात्मा-

का स्वरूप समझकर सम्मानपूर्वक सेवा करो। अपने स्त्री और बच्चोंकी तो बात ही क्या है; उनकी सेवामें तो यथावश्यक तैयार रहना ही चाहिये। सदा अपनी सेवा करनेवाले नौकरकी सेवा करनेका मौका मिलनेपर उसकी सेवा भी उत्साहपूर्वक करनी चाहिये; यहाँतक कि डोम, चमार, भंगी आदि किसी भी जातिका—जिसको लोग अस्पृश्य कहते हैं—कोई भी परिचित या अपरिचित मनुष्य हो, पशु-पक्षी हो; विपत्तिमें पड़े हुए किसी भी जीवकी उचित साधनोंद्वारा सम्मानपूर्वक निस्संकोच सेवा करना भगवान्‌की सेवा है। जो मनुष्य सेवा करनेमें अपमान समझता है वह कभी सेवाका सुख नहीं पा सकता।

९—याद रक्खो ४९ दिनोंके भूखे राजा रन्तिदेवने खानेके लिये मिले हुए थोड़े-से अन्न-जलको भूखे-प्यासे प्राणियोंके प्राण बचानेके लिये दे दिया था। उन प्राणियोंमें ब्राह्मण, चाण्डाल तथा कुत्ते भी थे।

१०—गरीब और दुखियोंकी आजीविकामें कमी हो और उनके जीवनमें कष्ट बढ़े, किसी भी प्रकारसे ऐसी किसी चेष्टाका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे समर्थन भी मत करो। ऐसी ही चेष्टा करो, जिससे उन्हें भरपेट रोटी तथा आवश्यक कपड़े मिल सकें और रहनेको जगह मिले। जो गरीबोंका पेट काटकर उस धनको दान-धर्ममें लगाकर धर्म कमाना चाहता है, वह धर्म कभी नहीं कमा सकता। उसकी उस दूषित धनके द्वारा की हुई सेवासे भगवान् प्रसन्न नहीं हो सकते।

११—जो जितना ही अधिक दीन, दुखी, अनाथ, अनाश्रय,

अभावग्रस्त, रोगी या पीड़ित हो, वह उतना ही अधिक नम्रता, विनय और प्रेमके बर्तावका अधिकारी है। ऐसे लोगोंसे बहुत प्रेमका बर्ताव करो और जिसमें उनकी पीड़ा कुछ कम हो, ऐसी तन-मन-धनसे यथासाध्य चेष्टा करो और साथ ही अपने सुन्दर बर्तावसे उन्हें भगवान्‌के भजनमें लगाओ, जो दुःखोंके आत्यन्तिक नाशका एकमात्र उपाय है।

१२–किसीकी सेवा करके यह मत मानो कि हमने उसका उपकार किया है। उपकारकी भावनामें अभिमान रहता है। अभिमान सेवाकी मात्राको और महत्त्वको घटा देता है। विचारकर यह जरूर देखो कि हमसे जो कुछ सेवा बन पड़ी है, उससे ज्यादा हो सकती थी या नहीं, और उसमें कहीं कोई स्वार्थ या तिरस्कारका भाव तो नहीं रहा है। यदि ऐसी कोई बात हो तो आइंदाके लिये सावधान हो जाओ।

१३–कद्र करानेके लिये सेवा न करो, पद-प्राप्तिके लिये सेवा न करो, पूजा पानेके लिये सेवा न करो; परंतु सेवा करनेसे कभी हटो नहीं। उत्साहपूर्वक शक्तिभर सेवा करना ही अपना धर्म समझो।

१४–किसीको अपना अनुयायी, शिष्य, सेवक, शासित, अनुगामी, पुजारी या पक्षपाती बनानेकी इच्छासे सेवा न करो। सेवा जरूर करो, परंतु करो कर्तव्यबुद्धिसे।

१५–बुराई करनेवालोंसे न करनेवाले श्रेष्ठ हैं, उदासीनोंकी अपेक्षा कामनासे सेवा करनेवाले श्रेष्ठ हैं, उनसे निष्काम सेवक श्रेष्ठ हैं, और सर्वोत्तम तो वे हैं, जिनका स्वभाव ही सेवा करना है।

१६–सेवा ऐसे रूपमें करो कि उसको स्वीकार करनेमें किसीको कोई संकोच न हो, बल्कि तुम्हारी सेवा स्वीकार करनी ही पड़े, तुम्हारे प्रति उसके हृदयमें आत्मीयता बढ़े और तुम्हारे सद्गुणोंको वह ग्रहण कर ले। ऐसा होनेमें प्रधान बातें यही हैं— सेवा गुप्त हो; सेवा उसी वस्तुके द्वारा की जाय जिसकी उसको जरूरत हो, चाहे वह चीज तुम्हारी दृष्टिमें मामूली ही हो और चाहे तुम उसको उससे अच्छी चीज देना चाहते हो। अहसान न जताओ, व्यवहारमें कहीं इशारेसे भी अपनेमें कभी ऊँचापन न आने दो, सेवाके बदलेमें उसपर अपना कोई अधिकार मत समझो, निश्छल सम्मान करो, स्वार्थ साधनेकी भावना भी मनमें न आने दो और बदलेमें कोई सेवा न कराओ।

१७–एक आदमी गुप्तरूपसे तुम्हारी सेवा स्वीकार कर सकता है, उसे प्रकाशमें लाना सेवाधर्मसे गिरना है।

१८–तुम्हें अपनी सेवाका कोई फल सामने न दिखायी दे। तुमने किसीके दुःख दूर करनेकी यथाशक्ति चेष्टा की, पर उसका दुःख दूर नहीं हुआ। इस हालतमें सेवाको व्यर्थ मत समझो, अपना काम तो तुमने कर दिया। फल वही होगा, जो होना है। दूसरी बार और भी उत्साहसे सेवा करो। उत्साहकी वृद्धिको ही सेवाका फल समझो।

१९–तुमने किसीको कुछ दिया, उसने उसे अपने पास न रखकर दूसरे किसीको दे दिया, या खो दिया। इससे क्षोभ न करो। तुम्हारी सेवा तो करते ही सार्थक हो गयी। अब उसपर

उसका अधिकार है जो चाहे सो करे। अथवा उसका भाग्य उसे उसके उपयोगमें आने दे, चाहे न आने दे।

२०–जिसकी सेवाके लिये बहुत लोग तैयार हैं, तुम भी उसकी सेवा करनेवालोंमें शामिल मत होओ। जिसकी सेवा करनेवाला कोई नहीं है, तुम समझो कि वहीं तुम्हारी सेवा भगवान् चाहते हैं। उसीकी सेवा करो।

२१–जहाँ अन्नका अभाव है, वहाँ भगवान् अन्नके द्वारा तुम्हारी सेवा चाहते हैं; जहाँ जलका अभाव है, वहाँ जलके द्वारा; जहाँ वस्त्रका अभाव है, वहाँ वस्त्रके द्वारा; और जहाँ आश्रयका अभाव है, वहाँ आश्रयके द्वारा।

२२–किसी शुभ व्रतधारीके व्रतकी रक्षामें सहायता करना उसकी व्रतरक्षाके अनुकूल स्थिति उत्पन्न कर देना भी उसकी सेवा करना है। इसके विपरीत स्नेह या मोहवश उसे सुख पहुँचानेके लिये ऐसी सेवा करना, जिससे उसका व्रत छूटनेकी सम्भावना हो जाय, सेवाका दुरुपयोग करना है।

२३–सेवामें त्यागकी आवश्यकता है और त्यागके लिये इन्द्रिय-संयमकी। जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं होतीं, वह सेवा नहीं कर सकता।

२४–किसीका भी अपमान न करना उसकी सेवा करना है।

२५–अपनेको काम, क्रोध, लोभ, वैर, विरोध, हिंसा, द्वेष, मत्सर, ईर्ष्या, कृपणता, मान, अभिमान, विषाद, शोक, मोह, दम्भ, दोषदर्शन, अशुभचिन्तन, व्यर्थचिन्तन आदि बुरे विचारों और

भावोंसे सर्वथा बचाकर इनके बदलेमें प्रेम, सौहार्द, दया, क्षमा, सेवा, उदारता, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, त्याग, संतोष, शान्ति, आनन्द, प्रफुल्लता, विनय, सरलता, गुणदर्शन, शुभ-चिन्तन, प्रभुस्मरण आदि श्रेष्ठ विचारों और भावोंको जाग्रत् रखना और बढ़ाना जगत्‌की बड़ी सेवा करना है; क्योंकि मनुष्यके विचारोंकी लहरें बाहर जाकर वैसा ही वातावरण बनाती हैं और बहुत दूर-दूरतक पहुँचकर प्राणियोंके मन-बुद्धि और क्रियापर न्यूनाधिकरूपमें असर करके उन्हें अपने साँचेमें ढालनेका प्रयत्न करती हैं।

२६–अपने मातहतोंकी, गरीब अड़ोसी-पड़ोसियोंकी, नौकरों-की, बच्चोंकी और गरीबोंकी बातें, जो तुम्हें आग्रहसे सुनाना चाहते हैं, आदर और प्रेमसे काफी समय देकर सुन लो। उनका तिरस्कार न करो और जहाँतक हो सके, उनकी न्याय्य माँगोंको पूरा करनेकी सहृदयताके साथ चेष्टा करो।

२७–अपने यहाँके किसी उत्सव या बड़े समारोहमें अड़ोसी-पड़ोसियोंकी, नौकरोंकी तथा मजदूरोंकी कोई शारीरिक या आर्थिक हानि न हो, इस बातका पहले खयाल रक्खो। यह भी सदा खयाल रक्खो कि तुम्हारी सेवा करनेवाले नौकर या मजदूरोंकी उन्नतिका मार्ग सदा खुला रहे।

२८–कीमती सेवा वह है, जिसमें सेवा करनेवालेका किसीको पतातक न लगे।

२९–राह भूले हुएको सहृदयताके साथ उसके साथ जाकर रास्ता बतला देना भी सेवा है।

३०—ऐसी कोई बात मुँहसे मत निकालो, जिसके कारण किसीको लज्जित होना पड़े और तुम्हें भी संकोच हो।

३१—दूसरेके दोषोंको दूर करनेके लिये ही देखो, प्रकट करके उसे बदनाम करने या नीचा दिखानेके लिये नहीं। उन दोषोंको दूर करनेकी चेष्टा उसी पद्धतिसे करो, जिससे अपने दोषोंको दूर करनेके लिये किया करते हो।

३२—जो पुरुष सेवा करानेसे दुखी होते हों, उनकी सेवा केवल मनसे ही करो। धन या तनसे उनकी सेवा न करना ही उनकी सेवा करना है।

३३—सेवाके बदलेमें सेवा करनेकी शक्तिकी ही वृद्धि चाहो। वह भी चुपचाप श्रीपरमात्मासे ही और उसमें भी कहीं किसी प्रकारके अभिमान या आसक्तिको चित्तमें न आने दो।

३४—सेवा करनेका अवसर आनेपर सर्वस्व देकर भी सेवा करनेसे न चूको और सेवाकी दूकान सजाकर बैठो मत।

३५—यदि तुम्हारी की हुई सेवाका श्रेय किसी दूसरेको मिलता हो, तुम्हारे बदले दूसरेका नाम होता हो, तो प्रसन्न होओ। डाह न करो और न यह रहस्य खोलनेकी ही चेष्टा करो कि सेवा हमने की थी। तुम्हारा सच्चा श्रेय इसीमें है।

३६—बिना समझे-बूझे सेवाके नामपर किसीके साथ कोई ऐसी चेष्टा मत कर बैठो जिससे उसका संकट और भी बढ़ जाय। ऐसी अवस्थामें केवल हृदयकी सच्ची सहानुभूतिसे ही उसकी सेवा करो।

३७—अपनेको सेवा करानेका अधिकारी कभी मत समझो, और न किसी दूसरेको अपना सेवक समझो। आवश्यकता होनेपर यदि किसी दूसरेकी प्रसन्नताके लिये तुम्हें उसकी निर्दोष सेवा बाध्य होकर स्वीकार करनी ही पड़े तो संकोचके साथ कर लो; क्योंकि कहीं-कहीं अनिच्छापूर्वक सेवा कराना भी सेवा करना होता है। परंतु उसमें आराम समझकर प्रसन्न मत होओ। रसास्वादन मत करो। नहीं तो सेवा करानेकी बान पड़ जायगी, जो तुम्हें सेवा करनेके लाभसे वञ्चित कर देगी।

३८—जिनके द्वारा तुम्हारी किसी भी कारणसे किसी भी समय कुछ सेवा हुई हो, उनका जीवनभर उपकार मानो और अपनी शक्तिभर कृतज्ञताके साथ उनका हित करनेकी निर्दोष चेष्टा करो।

३९—सेवा कराना न चाहनेवाले जिन महात्माओंने तुम्हारे आग्रहवश तुम्हारी सेवा स्वीकार कर अपने व्रतको शिथिल किया, उनका अपने ऊपर बड़ा ही उपकार मानो।

४०—किसीके पापोंको प्रकट न करना और अपने प्रेमबलसे उसे पापके मार्गसे हटा देना उसकी बड़ी सेवा करना है।

४१—सेवाकी कसौटी है—जिस सेवाके बाद चित्तमें पछतावा, दुःख, अभिमान, जलन, द्वेष और निराशा हो तथा सेवा करनेसे चित्त हटे, निश्चय समझो कि उस सेवामें कुछ-न-कुछ दोष रहा है और जिस सेवासे प्रसन्नता हो, सुख हो, नम्रता आये, शान्ति हो, प्रेमकी वृद्धि हो, उत्साह हो, सेवा करनेकी शक्ति बढ़े, समझो वह सेवा ठीक हुई है।

४२—सेवासे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और शुद्ध अन्तःकरणसे ही शुद्ध और यथार्थ सेवा बन पड़ती है ।

४३—कोई दुखी मनुष्य अपना दुःख सुनाने लगे, तब ऐसा खयाल मत करो कि यह बहुत बढ़ाकर कह रहा है । तुम दूसरेके दुःखका अंदाजा नहीं लगा सकते । सम्भव है जिस बातको तुम बहुत ही छोटी समझते हो, वही दूसरेके मन बहुत बड़ी हो । सहानुभूतिके साथ धीरतापूर्वक उसकी बातें सुनो और जिस प्रकारसे, जितना भी, उसका दुःख कम करनेमें तुम सहायता कर सकते हो, करो ।

४४—अपने ऊपर कोई कष्ट आये तो ऐसा समझो कि वह भगवान्‌का भेजा हुआ तुम्हारी सेवावृत्तिको विकसित करनेके लिये आया है । कष्टका भोगनेवाला ही दूसरेके कष्टका अंदाजा लगाकर उसकी सेवाके लिये तैयार हो सकता है, भुक्तभोगीके सिवा दूसरेको अनुमान होना कठिन है ।

४५—किसी भी हालतमें यह मत समझो कि हमें दूसरे किसीकी सहायताकी जरूरत ही नहीं है । संसारमें किसीका भी काम परस्पर एक दूसरेकी सहायताके बिना नहीं चलता और जब हमारा जीवन दूसरोंकी सहायतापर ही निर्भर है, तब हमें भी सदा यथाशक्ति दूसरोंकी सेवा करनेके लिये तैयार रहना चाहिये ।

४६—जिस दिन उच्च श्रेणीकी और अधिक सेवा करनेका सुअवसर मिले, उस दिन वैसे ही प्रसन्न होओ, जैसे लोभी मनुष्य धन पानेसे होता है और भगवान्‌से यह चाहो कि वे इसी प्रकार अपनी सेवामें निमित्त बनाते रहें ।

४७–सेवाका सुअवसर न मिलनेपर दुखी होकर भगवान्‌से प्रार्थना करो कि 'भगवन् ! मुझसे कोई अपराध हो गया हो तो उसे क्षमा कीजिये और मुझे सेवाका सुअवसर प्रदान कीजिये ।'

४८–जो सेवा कराता है और करना नहीं चाहता, उसे मन्द-भागी या अभागी समझो । बड़भागी वह है, जो सेवा करते-करते कभी अघाता नहीं और जो कुछ सेवा करता है, उसमें अपना अहोभाग्य समझता है ।

४९–किसीमें किसी सद्‌गुणका अभाव जान पड़े और वह तुम्हारे अंदर हो तो अपने बर्तावके द्वारा उसके सामने उस सद्‌गुणको रखो और रखो भी इस रीतिसे कि जिसमें वह उसे ग्रहण कर ले ।

५०--किसीकी ऐसी सेवा न करो, जिससे वह उच्च ध्येयसे गिर जाय, कर्तव्यसे च्युत हो जाय, विलासी बन जाय, ईश्वरसे विमुख हो जाय, सदाचारसे भ्रष्ट हो जाय । ऐसी सेवा सेवा नहीं है ।

५१--अपनी की हुई सेवापर कहीं अभिमान आने लगे तो अपनेसे बढ़कर सेवा करनेवालोंकी महती सेवाको याद करो । यह कभी मत समझो कि हमसे अच्छा सेवाधर्मी कोई है ही नहीं । दुनियामें तुम्हारी अपेक्षा अधिक और ऊँची सेवा करनेवाले न मालूम कितने हो चुके हैं, अभी हैं और आगे होंगे ।

५२–सामाजिक कार्योंमें जो प्रथा शास्त्रदृष्टिसे अनावश्यक होनेके साथ ही बहुत खर्चीली हो और जिसको समाजकी चाल समझकर लोगोंको कष्ट सहकर भी निभानेके लिये मजबूर होना पड़ता हो, अच्छे पुरुषोंकी सलाह लेकर निर्भयताके साथ

अपने घरसे उस प्रथाको बंद कर दो । किसीको कुछ भी बुरा-भला न कहो । एक बार समाजमें तुम्हारी बदनामी होगी, लोग कुछ बुरा-भला भी कहेंगे, परंतु तुम्हारी इस सेवाको आगे चलकर समाज बड़े ही आदरकी दृष्टिसे देखेगा ।

५३--दूसरे लोगोंको जिस सेवामें भय माळूम होता हो या घृणा होती हो, साहसपूर्वक उस सेवाको अवश्य करना चाहिये, जैसे छूतसे लगनेवाली बीमारियोंसे पीड़ित बीमारोंकी सेवा आदि । रोगके भयसे ऐसे पीड़ित मनुष्योंकी सेवासे अगर सभी लोग मुख मोड़ लें तो उनके कष्टका पार न रहे । विश्वास रखो, सच्चे हृदयकी सेवासे तुम्हारा कोई अनिष्ट नहीं होगा । अवश्य ही ऐसी व्यवस्था भी करो, जिसमें अपने या दूसरोंके ऊपर उस रोगका आक्रमण न हो ।

५४--सेवा करते समय जो अपनेको सेव्यसे बड़ा समझता है, उससे यथार्थ सेवा नहीं हो सकती ।

५५--अपने अधीनस्थ कर्मचारी, सेवक या मजदूरको आलसी, प्रमादी, सुस्त, मूर्ख, कामचोर, भ्रष्टाचारी और नशेबाज न बनने देकर अपने प्रेमपूर्ण बर्ताव और उत्तम आदर्शसे उसे सदाचारी, व्यसनहीन, कर्तव्यपरायण, बुद्धिमान् और आज्ञाकारी बना देना उसकी बड़ी सेवा करना है ।

५६--अधिकारी और निर्लोभी पुरुषोंद्वारा जगह-जगह नियमित श्रीहरिकथाका प्रबन्ध करा देना जनताकी बड़ी सेवा करना है ।

५७--मित्र या सम्बन्धीको कुपथसे हटाकर सुपथपर लाना उसकी बड़ी सेवा है ।

५८-अपने शरीर, इन्द्रिय और मनको वशमें रखकर केवल उन वशमें किये हुए करणोंद्वारा ही विषयोंका आवश्यक भोग करना समाजकी बड़ी सेवा करना है।

५९-किसी भी वस्तुका आवश्यकतासे अधिक संग्रह न करना समाजकी बड़ी सेवा करना है।

६०-सत्य और न्यायमार्गसे धन उपार्जन कर उसे गरीबोंकी सेवामें यथायोग्य लगा देना समाजकी बड़ी सेवा करना है।

६१-मामला लड़नेवालोंका आपसमें पंचायतद्वारा फैसला करवा-कर उन्हें अदालतमें न जाने देना समाजकी एक बड़ी सेवा है।

६२-किसीके भी दूसरेका अहित न करनेवाले धर्म और कर्तव्यके पालनमें सुविधा कर देना और सहायता करना अच्छी सेवा करना है।

६३-अपने सरल और शुद्ध प्रेम, त्याग तथा सहानुभूतिसे पूर्ण सदाचरण और सद्व्यवहारोंद्वारा श्रीभगवान्‌की ओर लोगोंका विश्वास बढ़ाना उनकी बहुत बड़ी सेवा करना है।

६४-मनमें किसी प्रकारसे भी धन, मान, बड़ाई आदिकी कामना या लोभ न रखकर शुद्ध धार्मिक भावोंका, सदाचारका तथा सार्वभौम प्रेमका प्रचार करना बड़ी सेवा है।

६५-बच्चोंको बुरी लतमें पड़नेसे बचाना मनुष्य-जातिकी बड़ी सेवा करना है।

६६-मांस और शराबका किसी भी बहाने होनेवाला प्रचार बंद करना जीवमात्रकी सेवा करना है।

६७–भगवान्‌ने कितनी प्रकारसे हमारी सेवाकी व्यवस्था कर रखी है। प्रकृतिके सभी तत्त्वोंको भगवान्‌ने हमारी सेवामें नियुक्त कर रखा है। पृथ्वीतत्त्व हमें टिकनेके लिये आधार देता और अन्नादिके उपजानेकी व्यवस्था करता है; जलतत्त्व हमारी प्यास बुझाता है, हमारी मलिनताओंको धोता है और अन्नादिमें रसका संचार करता है; अग्नितत्त्व शीत निवारण करता है, बाहर और भीतर परिपाक करता है और हमें प्रकाश देता है; वायुतत्त्व ताप दूर करता है, प्राणधारणमें सहायता करता है; आकाशतत्त्व हमें अवकाश देता है। इसी प्रकार इन्द्रिय, मन और बुद्धितत्त्वसे हमारी निरन्तर सेवा हो रही है। हमें भी इनका अनुकरण कर सबकी सेवामें तत्पर रहना चाहिये।

६८–सेवा करनेवालेको गीताका निम्नलिखित श्लोक अर्थसहित याद रखना चाहिये एवं इसीके अनुसार सात्त्विकभावसे सेवा करनी चाहिये—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥

(१८।२६)

'जो पुरुष आसक्तिसे रहित है, मैंने किया—ऐसा सोचने और कहनेवाला नहीं है, धीरज और उत्साहसे भरा है, कार्यकी सिद्धि और असिद्धिमें जिसके मनमें हर्ष या शोकका विकार नहीं होता, वही सात्त्विक कर्ता कहा जाता है।'

सच्चे सेवककी स्थिति ऐसी हो जाती है—

(१) सेवक स्वभावसे ही पवित्र, त्यागी, स्वार्थशून्य, कार्य-

कुशल, सरल, आडम्बररहित, उत्साही, नित्यप्रस्तुत, नित्यप्रसन्न, प्रेमी और कर्तव्यपरायण होता है।

(२) सेवक सेवाके लिये ही सेवा करता है।

(३) सेवकका स्वभाव वैसे ही सेवा होता है जैसे अमृतका स्वभाव अमरता, सूर्यका स्वभाव प्रकाश, जलका स्वभाव शीतलता और अग्निका स्वभाव दाहकता होता है।

(४) सेवकके सेवाभावमें विषमता नहीं होती। वह सबमें एकमात्र अपने प्रभुके दर्शन करता है; इसीलिये किसीकी भी सेवासे वह विमुख नहीं होता और सबकी सेवा करता है। सेवाके स्वरूपमें सेव्यकी आवश्यकता एवं रुचिके अनुसार भेद होता है; पर उसकी प्रीति, दृष्टि और भावनामें कभी कोई भेद नहीं होता।

(५) सेवक सेवासे न कभी मुँह मोड़ता है और न थकता ही है। वह जितनी ही अधिक सेवा कर पाता है, उतनी ही उसकी सेवाकी शक्ति बढ़ती है।

(६) सेवक अनुकूल या प्रतिकूल किसी भी परिस्थितिके वशमें नहीं होता, बल्कि प्रत्येक परिस्थिति उसके अनुकूल बनकर उनके सेवा-धर्ममें सहायक हो जाती है।

(७) सेवककी सेवा गङ्गाजीके प्रवाहकी भाँति स्वाभाविक ही अपने जोरके धक्कोंसे सारे बाधा-विघ्नोंको चूर-चूर करती हुई सतत प्रभुकी ओर बहती रहती है।

(८) सेवकके मनमें सेवाको प्रकट करनेकी कल्पना नहीं होती; क्योंकि वह किसीको दिखानेके लिये सेवा करता ही नहीं। वह सेवक होता है, कहलाता नहीं।

(९) सेवक सेवाके लिये किसी बाहरी वस्तुकी बाट नहीं देखता। वस्तुसे ही सेवा बनती हो, तब तो वस्तुके अभावमें सेवकका नित्य सेवाव्रत ही भङ्ग हो जाय। वह तो प्रतिक्षण सेवा ही करता है। हाँ, वस्तुएँ उसके द्वारा बरती जाकर धन्य होनेके लिये उसे अवश्य घेरे रहती हैं।

(१०) सेवक सदा निरभिमान, नम्र, अकिञ्चन और सेवाव्यसनी होता है। मान-सम्मान, पद-अधिकार, यश-कीर्ति और धन-ऐश्वर्य उसके पीछे-पीछे दौड़ा करते हैं—बड़ी आकुलताके साथ इस आशासे कि वह उन्हें स्वीकार करके धन्य करे; परंतु उसे उनकी ओर ताकनेको अवसर नहीं मिलता। वैसा मन ही उसके पास नहीं होता, जिससे वह उनकी ओर ताके।

(११) सेवकको जगत्की कोई भी लोभनीय स्थिति लुभा नहीं सकती; क्योंकि वह ऐश्वर्य, सौन्दर्य और माधुर्यके अप्रतिम, महामहिम, असीम, अचिन्त्य, अनन्त भण्डार प्रभुकी सेवाका सुख प्राप्त करता है, जिसके सामने बड़ी-से-बड़ी स्थिति भी सर्वथा नगण्य और हेय होती है।

(१२) सेवक संसारको भूला रहता है, पर संसार उसका

नाम युग-युगान्तरोंतक याद रखता है और उसके पदानुसरणकी चेष्टा करके—नहीं तो कम-से-कम उसके पवित्र गुणोंकी स्मृतिसे ही अपनेको धन्य बनाता है।

(१३) सेवक और सेवामें अभिन्नता होती है।

(१४) सेवक न तो अपनेमें सेवाकी शक्ति देखता है और न सेवाके योग्य किसी साधनपर ही अपना स्वामित्व पाता है। वह देखता है, सेवाकी शक्ति निरन्तर शक्तिके भंडार प्रभुसे आ रही है और समस्त साधन भी प्रभुकी ही सम्पत्ति हैं। प्रभु जिस समय जिस वस्तुके द्वारा जिस प्रकार अपनी सेवा करवाना चाहते हैं, उससे कराते हैं। वह तो निमित्तमात्र है।

(१५) सेवक ऐसा सेवापरायण होता है कि सेव्य प्रभु आठों पहर लगातार उसके पास रहकर उसकी प्रत्येक सेवाको सस्नेह साग्रह ग्रहण करते रहते हैं। उसी परम सेवाका एक कण भी व्यर्थ जाना प्रभुको सहन नहीं होता।

(१६) सेवक प्रभुको ऐसा आत्मसमर्पण कर देता है कि फिर प्रभुको स्वयं उससे प्रेम करना पड़ता है। प्रभु उसे बना लेते हैं अपना प्रेमास्पद और आप बन जाते हैं उसके प्रेमी।

(१७) सेवककी सहज सेवा प्रभुको खींच लेती है। फिर प्रभु

उसकी सेवा स्वीकार करते हैं उसकी सेवा करनेके लिये ही।

(१८) सेवक प्रभुका इतना प्यारा होता है कि उसकी तमाम जिम्मेवारी प्रभु अपने ऊपर ले लेते हैं।

(१९) सेवक ही सेवाके महत्त्व और स्वरूपको जानता है। असलमें प्रभु जिसको सेवाशक्ति देते हैं, वही सेवक बन सकता है। स्वाँग धरनेवाले तो बहुत होते हैं, पर वे सेवक नहीं होते।

(२०) सेवक बन सकते हैं सभी, क्योंकि प्रभु सेवाशक्ति देनेमें बड़े ही उदार हैं। पर देते हैं उसीको, जो स्वाँग न बनकर—सच्चा सेवक बनना चाहता है।

(३)

सम्मानदान

संसारत्यागी भगवत्प्राप्त महापुरुषोंको, और विषयोंसे विरक्त ऊँची श्रेणीके भक्तों और साधक महानुभावोंको छोड़कर संसारमें शायद ही कोई ऐसा मनुष्य हो, जिसको अपमानमें दुःखकी और सम्मानमें सुखकी अनुभूति न होती हो। मनुष्योंकी तो बात ही क्या है, पशु-पक्षी भी सम्मानसे खुश और अपमानसे नाराज होते देखे जाते हैं। प्रत्येक मनुष्यको किसी भी कारणवश दूसरेका अपमान करते समय यह विचार करना चाहिये कि मेरा किसीके द्वारा जब जरा-सा भी अपमान होता है, तब मुझे कितना दुःख होता है। इसी प्रकार इसको भी दुःख होता

होगा। इस प्रकार विचार किया जायगा तो धीरे-धीरे अपमान करनेकी बान छूट जायगी। विचारवान् पुरुषको तो भूलकर भी किसीका अपमान नहीं करना चाहिये। छोटे-बड़े सभीका सम्मान करते हुए ही यथायोग्य व्यवहार करना उचित है। बड़ोंका सम्मान तो हमारे लिये परम लाभदायक है। शास्त्रोंमें गुरु, माता, पिता, बड़े भाई, आचार्य, ब्राह्मण, ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध आदिका श्रद्धापूर्वक सम्मान करनेकी आज्ञा जगह-जगह दी गयी है।

मनु महाराजके कुछ महत्त्वपूर्ण वचनोंपर ध्यान दीजिये—

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः॥
आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः॥
यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥
तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते॥
तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
(मनु० २। २२५-२२९)

'आचार्य, पिता, माता और बड़े भाई—इनका दुखी होनेपर भी अपमान न करे और ब्राह्मणको तो विशेष करके इनका अपमान नहीं करना चाहिये; क्योंकि आचार्य ब्रह्माकी मूर्ति, पिता प्रजापतिकी मूर्ति, माता पृथ्वीकी मूर्ति और बड़ा भाई अपनी

आत्माकी ही दूसरी मूर्ति है (इनका अपमान करनेसे इन-इन देवताओंका अपमान होता है)। बालकोंको जन्म देकर उनके पालनमें माता-पिताको जो कष्ट सहना पड़ता है, उसका बदला सैंकड़ों वर्ष सेवा करके भी नहीं दिया जा सकता। अतएव प्रतिदिन माता-पिता और आचार्यका प्रिय कार्य करे। इन तीनोंके संतुष्ट होनेसे सब तप पूर्ण हो जाता है; क्योंकि इन तीनोंकी सेवा करना ही परम तप कहलाता है।'

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान् विजयेद् गृही।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते॥
सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः॥
(मनु० २। २३२, २३४)

'जो गृहस्थ इन तीनोंकी सेवामें तत्पर रहता है, वह तीनों लोकोंको जीत लेता है और दिव्य लोकमें सूर्यके समान अपने तेजस्वी शरीरसे प्रकाशित होता हुआ आनन्दमें रहता है। जो इन तीनोंका आदर करता है, वह सब धर्मोंका आदर करता है और जो इन तीनोंका अनादर करता है, वह कुछ भी धर्म-कर्म करे, उसका सब निष्फल होता है।'

इसी प्रकार सभी गुरुजनोंके प्रति सम्मान करना चाहिये। माता, पिता, गुरु, आचार्य, वृद्ध, बड़े भाई, मौसी, भौजाई, नाना, नानी, मामा, मामी, ससुर, सास आदिको नित्य सम्मानपूर्वक प्रणाम करना चाहिये। मनु महाराज कहते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥
(२। १२१)

'जो मनुष्य नित्य वृद्धोंको प्रणाम करता है और उनकी सेवा करता है, उसके आयु, विद्या, यश और बल बढ़ते हैं।'

खेदका विषय है कि आज मनुष्यका अहंकार इतना अधिक बढ़ गया है कि वह इन स्वभावसे ही नित्य पूजनीय प्रत्यक्ष भगवत्स्वरूप माता, पिता, गुरु आदिका अपमान करनेमें ही अपना महत्त्व समझता है। अधिक क्या, आज तो वह सर्वव्यापी ईश्वरतकका अपमान करनेके लिये कमर कस रहा है। परंतु यह दुराचार है और इसका परिणाम बहुत ही भयानक होगा। अतएव इस पतनके प्रवाहमें न पड़कर विधिपूर्वक बड़ोंका सम्मान करना चाहिये।

यह स्मरण रहे कि सम्मान करनेमें कहीं दम्भ नहीं होना चाहिये। सच्चा सम्मान सरल हृदयसे ही होता है। स्वार्थी या कुटिल हृदयका बाहरी सम्मान तो वस्तुतः सम्मान है ही नहीं; वह तो दिखावटी सभ्यता है अथवा कुचक्रपूर्ण कुटिल नीति है। ऐसे 'विषकुम्भं पयोमुखम्'* सम्मानसे तो सदा सावधान ही रहना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण जब दूतलीला करनेके लिये कौरवोंके दरबारमें पधारे थे, तब ऊपरसे उनका स्वागत-सम्मान करनेमें कोई कसर नहीं रखी गयी थी; परंतु दुर्योधनादिके हृदयमें कुटिलता भरी थी। अन्तर्यामी भगवान्

---

* जिस घड़ेके अंदर तो जहर भरा हो और मुँहपर थोड़ा-सा दूध हो।

इस बातको समझ गये थे और इसीलिये वे कौरव-राजमहलके राजसी निमन्त्रणका निरादर कर, मान-सम्मानकी कुछ भी परवा न कर प्रेमी भक्त विदुरके घर बिना बुलाये चले गये और साग-भाजी जो कुछ मिला, उसीका प्रेमसे भोग लगाकर तृप्त हुए। 'दुर्योधनके मेवा त्यागे साग बिदुर घर खायो' प्रसिद्ध है।

अहंकारी मनुष्य किसीका सम्मान करना नहीं चाहता। वह सबके साथ रूखा व्यवहार करनेमें ही अपना गौरव समझता है। जहाँ कोई दबावका कारण नहीं होता, वहाँ तो अहंकारी मनुष्यको हाथोंहाथ ही रूखेपनका फल मिल जाता है। जहाँ किसी कारणवश लोग दबे रहते हैं, वहाँ लोगोंके मनोंमें वह रूखापन बढ़ता रहता है, जो अवसरकी प्रतीक्षामें अंदर ही अंदर राखसे ढकी आगकी तरह सुलगता रहता है और अनुकूल समय पाते ही प्रतिहिंसाकी प्रचण्ड ज्वालाके रूपमें प्रकट होकर अपनी सर्वग्रासी लपटोंसे उसे सकुल भस्म कर डालता है और वह वैरकी आग आगे चलकर भी जन्म-जन्मान्तरतक दुःख देती रहती है। इसके विपरीत सम्मानदानकी शीतल सुधाधारा बढ़ी हुई विरोधाग्निको सहज ही शान्त कर हृदयमें अमृत सींच देती है।

अतएव किसीका भूलकर भी अपमान न करके सबका यथायोग्य सम्मान करना चाहिये। न मालूम किस वेषमें कौन आता है। जब उसके वेषका रहस्य खुलेगा, तब मालूम होगा कि कौन है। विराटनगरमें पाँचों पाण्डव और रानी द्रौपदीने वेष बदलकर सालभर नौकरी की थी। वहाँ नीचमति

कीचकके द्वारा द्रौपदीका अपमान हुआ, जिसके फलस्वरूप कीचक अपने बन्धुओंसमेत मारा गया और अन्तमें एक दिन बृहन्नला-वेषी अर्जुनकी बड़ाई करनेपर विराटने धर्मराजका अपमान कर दिया। कुछ ही समय बाद जब भेद खुला और यह मालूम हुआ कि ये पाँचों महानुभाव पाण्डव हैं और सैरन्ध्री नाम धारण करके सेवा करनेवाली दासी बनी हुई महारानी द्रौपदी हैं, तब विराटके मन पश्चात्तापका पार न रहा और राजा विराट अर्जुनके पुत्र अभिमन्युको अपनी पुत्री देकर भी पश्चात्तापसे नहीं छूट सके। इसी प्रकार आज हम जिसका अपमान करते हैं, न मालूम वह हमारे कितने सम्मानका पात्र है और वस्तुतः बात भी ऐसी ही है। समस्त जगत् श्रीनारायण-का स्वरूप ही तो है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है कि 'मेरे अतिरिक्त कुछ भी जगत्‌में नहीं है।' 'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति।' (गीता ७। ७) अतएव सबको परमात्मा समझकर मन, वाणी और शरीर तीनोंसे सबका सम्मान करना चाहिये। मनसे सबको परमात्माका स्वरूप समझकर सबको नमस्कार करना और सबकी सेवाकी इच्छा रखना, वाणीसे मधुर और आदरपूर्ण भाषण करना और शरीरसे विनय तथा नम्रतायुक्त बर्ताव करना चाहिये। आत्मविद्यामें विशारदके पदको प्राप्त महाभागवत योगेश्वर श्रीकवि कहते हैं—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, सब जीव, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ और समुद्र जो कुछ भी हैं, सब श्रीहरिके शरीर ही हैं । अतएव सबको अनन्यभावसे प्रणाम करो ।' श्रीभगवान् तो उद्धवसे यहाँतक कह देते हैं—

इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते ।
सभाजयन् मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः ॥
ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके ।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः ॥
विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम् ।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २९ । १३, १४, १६)

'महातेजस्वी उद्धव ! इस प्रकार केवल ज्ञानका आश्रय करके जो पुरुष सब प्राणियोंमें मेरा ही रूप मानकर सबका सम्मान करता है और ब्राह्मण, चाण्डाल, चोर और ब्राह्मणभक्त, सूर्य और चिनगारी, दयालु और निर्दय सबमें समभावसे मुझको देखता है, वही पण्डित है । अपना मजाक उड़ानेवाले स्वजनोंकी बातपर ध्यान न देकर 'मैं अच्छा हूँ, यह बुरा है' ऐसी देहदृष्टिको तथा लोकलाजको त्यागकर कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधेको भी पृथ्वीपर गिरकर (उसे भगवत्-स्वरूप समझकर) साष्टाङ्ग प्रणाम करना चाहिये ।'

यद्यपि यह उपदेश देहदृष्टिसे शून्य वीतरागी परमहंसोंकी स्थिति बतलानेवाला है, तथापि इतना तो सभीको निश्चय कर लेना चाहिये कि अपमान पाने योग्य संसारमें कोई नहीं है । इस नातेसे छोटे-बड़े सभी हमारे सम्मानके पात्र हैं ।

इस रहस्यको न समझनेके कारण ही जाति, वर्ण-व्यवसाय, क्रिया, धन, रूप, बल, पद, विद्या आदिके अभिमानवश मनुष्य दूसरोंको अपनेसे नीचा मानकर उनका अपमान करता है और उनकी अन्तरात्मापर भारी आघात पहुँचाता है, और इसके फल-स्वरूप स्वयं नीच बनकर गुरुतर आघातका पात्र बनता है।

हमलोगोंमेंसे कुछ लोग बड़ोंका सम्मान तो किसी भी हेतुसे अथवा अभ्यासवश करते भी हैं; परंतु अपनेसे छोटोंका सम्मान करते उन्हें बड़ा संकोच मालूम होता है और कुछ लोग तो उनका अपमान कर बैठते हैं। यहाँतक कि अपनी विवाहिता पत्नीतकका पतिभावके अभिमानमें आकर अपमान कर बैठते हैं। कुछ उद्धत प्रकृतिके मनुष्य तो गाली-गलौज और मारपीटतककी नृशंसता करनेमें भी नहीं हिचकते। यह बड़ा पाप है। पतिको परमेश्वरके समान मानकर उसकी सेवा करनेकी आज्ञा शास्त्रोंने स्त्रियोंके लिये दी है, और उन्हें तदनुसार करना ही चाहिये। परंतु पति अपनेको परमेश्वर माने और पत्नीको दासी मानकर जबरदस्ती उससे मनमानी दोषपूर्ण गुलामी करवावे, ऐसी आज्ञा कहीं नहीं है। फिर, परमेश्वरके समान गुण होनेपर कोई अपनेको परमेश्वरवत् भी मान ले तो किसी अंशमें उसका बचाव हो सकता है; हम न मालूम परमेश्वरका कितना अपमान करते हैं, कितना उसे भूले रहते हैं, परंतु वह हमारे अपार अपराधोंकी ओर ध्यान न देकर सदा हमारा कल्याण करनेमें ही लगे रहते हैं। ऐसी स्वाभाविक कल्याणकारिणी वृत्ति जिस पतिकी हो वह यदि पत्नीको अपनी पूजा परमेश्वरकी भाँति करनेके लिये कहे तो उसका ऐसा कहना उचित भी हो

सकता है, परंतु यह ध्यान रहे कि ऐसा पति सेवा-सम्मानका भूखा ही क्यों होगा ? अतएव किसी भी पतिको अपनी पत्नीका कभी अपमान नहीं करना चाहिये, वरं स्वयं सदा सन्मार्गपर आरूढ़ रहकर अपने स्वाभाविक उत्तम और सद्व्यवहारद्वारा उसके हृदयपर अधिकार करके, उसे भी सदा सन्मार्गपर चलाना चाहिये और मन-ही-मन उसको भगवान्‌की प्रतिमूर्ति मानकर यथायोग्य क्रियाओंद्वारा उसका सेवा-सम्मान करना चाहिये। इसी प्रकार गुरुको शिष्यका, पिताको पुत्रका, उच्चवर्णको अपनेसे निम्न वर्णका, धनीको निर्धनका, उच्चपदस्थको निम्नपदस्थका, विद्वान्‌को अविद्वान्‌का, सासको वधूका, मालिकको नौकरका सच्चे हृदयसे यथायोग्य सम्मान करना चाहिये। इसका यह तात्पर्य नहीं कि मोहवश, आसक्तिके कारण स्त्री-पुरुष आदिके शास्त्रोक्त व्यवहारमें—जो लोक-परलोक दोनोंमें कल्याणकारी है—उच्छृङ्खलता पैदा कर ली जाय।

अपनी अधीनतामें काम करनेवाले किसी भी कर्मचारी, सेवक या मजदूरका मन, वाणी या शरीरसे कभी अपमान नहीं करना चाहिये। मनमें किसीको नीचा समझना, शरीरसे अनुचित बर्ताव करना या गर्वपूर्ण आकृति बना लेना और वाणीसे किसीको अपमानजनक शब्द कहना सर्वथा अनुचित है। यह उक्ति सदा याद रखनी चाहिये कि तलवारका घाव मिट जाता है, पर जबानका नहीं मिटता।

मनु महाराज कहते हैं—

नारुन्तुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत्॥

(मनु० २। १६१)

'अत्यन्त पीड़ित होनेपर भी किसीको मर्मभेदी वचन न कहे, दूसरेके द्रोहके काममें बुद्धिको न लगावे और जिस जबानसे किसीको उद्वेग हो, ऐसी स्वर्गसे भ्रष्ट करनेवाली कड़ी जबान किसीसे न कहे।' हमेशा सबका भला चाहे, मीठी और हितकारी वाणी बोले और हँसमुख रहे। कुछ लोग अभिमानवश या बुरी आदत पड़ जानेके कारण अपने अधीनस्थ कर्मचारियोंसे अथवा सेवक और मजदूरोंसे उनकी शक्तिसे कहीं अधिक काम लेनेमें अपनी बुद्धिमानी समझते हैं, और उनसे बात करनेमें अपना अपमान समझते हैं। कभी बोलते भी हैं तो इशारे अथवा चेहरा बिगाड़कर अपने बड़प्पन-को दिखाते हुए बहुत ही रूखे शब्दोंमें, झिड़कते हुए, व्यंगभरा मजाक उड़ाते हुए, ताने मारते हुए, कि जिससे वे बेचारे दिल खोलकर अपना दुखड़ा रोकर सुना भी न सकें। कुछ लोग तो अहंकारवश यहाँतक नीचता कर बैठते हैं कि बुरी-बुरी गालियाँ देकर अपनी जबान गंदी करने और हाथ-लात चलाकर निर्दयता प्रकट करनेमें भी नहीं हिचकते। उनकी माँ-बहिनोंपर कुविचार और कुदृष्टि करते हैं। ऐसे नीच प्रकृतिके मनुष्य सर्वभूतस्थित परमात्माका अपमान करके घोर अपराध करते हैं और परिणाममें इहलोक और परलोकमें भीषण यन्त्रणाओंको भोगनेके लिये बाध्य होते हैं। अतएव इस प्रकारकी घृणित आदतको तो सब प्रकारसे हानिकर समझकर पाठकोंमेंसे किसीमें हो तो तुरंत छोड़ ही देना चाहिये; बल्कि अपमानजनक कोई-सा भी भाव नहीं आने देना चाहिये।

कुछ लोग नौकर और मजदूरोंके नामके साथ 'रे' शब्द जोड़कर ही उन्हें पुकारना आवश्यक समझते हैं। ऐसा करनेमें

मिथ्या अहंकार ही कारण है। इस अहंकारको छोड़ देना चाहिये। और किसीको भी 'रे' न कहकर यथासाध्य स्नेह और आदरके शब्दों और स्वरोंमें उससे बातचीत करनी चाहिये। कभी कोई दण्ड देना नितान्त आवश्यक जान पड़े तो वह किसी द्रोहबुद्धिसे न देकर उसी स्नेह-भावसे देना चाहिये, जिस भावसे स्नेहमयी जननी अपने पुत्रको देती है; परंतु पहले अपने आचरणोंसे सेवकके हृदयमें यह दृढ़ विश्वास उत्पन्न कर देनेकी कोशिश करनी चाहिये, जिससे वह आपको माताके समान प्यार करनेवाला समझ सके।

यह समझ रखना चाहिये—कोई व्यक्ति शुद्ध आजीविकाके लिये हमारे यहाँ काम करके पैसा लेता है इससे वह हमसे नीचा नहीं हो गया। जैसे हम हैं, वैसे ही वह भी है।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि नौकर या मजदूरको किसी कामके लिये कहनेमें ही उसका अपमान मानकर उसे आलसी, प्रमादी, सुस्त, रोगी, मूर्ख और आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाला बना दिया जाय। उसका सच्चा सम्मान इसीमें है कि वह हमारे साथ रहकर कर्तव्यपरायण, व्यवस्था माननेवाला, चुस्त, बुद्धिमान्, सदाचारी, आज्ञाकारी बने, जिसमें उसकी उन्नतिका पथ और भी प्रशस्त हो जाय। इस बातका ध्यान रहते हुए ही उसके साथ सम्मानपूर्ण बर्ताव हो। सम्मान कोरा ही नहीं होना चाहिये, उसको पेट भरने योग्य पूरी मजदूरी भी अवश्य ही मिलनी चाहिये।

अहंकाररहित होकर सरलताके साथ जो दूसरोंको सम्मानदान दिया जाता है उससे बहुत ही लाभ होते हैं। हम जिसका

सम्मान करते हैं, उसका विषाद मिटता है, उसके हृदयमें सुख होता है, उसका क्रोध शान्त होता है। विरोध नष्ट हो जाता है, हमारे प्रति यथायोग्य दया, स्नेह, प्रेम और आत्मीयताके भाव उसके हृदयमें जाग्रत् होते और बढ़ते हैं, जिससे अनायास ही हमारा हित करनेकी कामना उसके हृदयमें उत्पन्न होती है। यों हम सबका सम्मान करके अनायास ही सबको अपने हिताकांक्षी और हितकारी मित्र बना लेते हैं।

यह बात याद रखनी चाहिये कि अपमान करके मनुष्य शत्रुओंकी संख्या बढ़ाता है और सम्मान करके सुहृदोंकी। यह भी निश्चित है कि जिसके जितने ही शत्रु अधिक होंगे, उसकी जीवनयात्रा उतनी ही कण्टकाकीर्ण, अशान्त, असहाय और लक्ष्यतक पहुँचनेमें सन्देहयुक्त रहेगी। इसके विपरीत जिसके सच्चे मित्रोंकी संख्या जितनी ही ज्यादा होगी उतना ही उसका जीवन विघ्नरहित, शान्त, सहायतासे पूर्ण और स्वाभाविक ही सफलतासे युक्त रहेगा। मनुष्य अभिमानको छोड़ दे तो दुनियाभरको अपने पक्षमें ला सकता है।

भगवान् दीनबन्धु हैं, पतितपावन हैं, अशरण-शरण हैं। अतएव उनकी भक्ति चाहनेवालोंको भी ऐसा ही बनना चाहिये। माता अपने दीन बच्चेको विशेष प्यार करती है। माकी गोदमें धूलभरा बच्चा ही नहीं, गोदमें मल-मूत्र त्याग करनेवाला बच्चा भी बड़े स्नेहसे स्थान पाता है। माता उसका अनादर या तिरस्कार नहीं कर सकती। बड़े चावसे उसे

हृदयसे लगाये रखती है। अपने हाथों उसका मल-मूत्र धोनेमें सुखका अनुभव करती है। इसी प्रकार हमलोगोंको स्वयं अमानी होकर उन लोगोंका विशेष चावके साथ सम्मान करना चाहिये, उनका विशेष आदर करना चाहिये,जिनका आदर-सम्मान कोई नहीं करता या करनेमें सब सकुचाते हैं। महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव कहते हैं—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

अपनेको राहमें पड़े हुए एक तिनकेसे भी नीचा समझो, वृक्षसे बढ़कर सहनशील बनो, अपने मान-सम्मानकी इच्छा बिल्कुल छोड़कर दूसरोंका (मानहीनोंका) सम्मान करो और ऐसा बनकर सदा श्रीहरिकीर्तन करो।

सम्मान दो, पर चाहो मत। यह शास्त्रका उपदेश है। मनु महाराज तो कहते हैं कि—सम्मानसे जहरके समान डरना चाहिये तथा अपमानकी अमृतकी भाँति सदा इच्छा करनी चाहिये। अपना कल्याण चाहनेवालोंके लिये यही सिद्धान्त सर्वथा मानने योग्य है। मुक्तपुरुषोंको छोड़कर संसारमें शेष तीन तरहके मनुष्य हैं—पामर, विषयी और मुमुक्षु। 'मान न मान मैं तेरा मेहमान' कहावतको चरितार्थ करते हुए पामर प्राणी जबरदस्ती लाठीके जोरसे (जहरभरा) मान प्राप्त करते हैं। विषयान्ध विषयी मनुष्य मान-सम्मानमें—प्रतिष्ठा और पदमें परम सुख मानकर धन और धर्म, अर्थ और परमार्थ—दोनोंको बेचकर मान-बड़ाई प्राप्त करना चाहते हैं और मुमुक्षु पुरुष—सच्चा कल्याण चाहनेवाले बुद्धिमान् पुरुष—मानको जहर समझकर

उसका दूरसे ही त्याग करते हैं और अपमानको अमृत मानकर उसको ढूँढ़ा करते हैं और मिल जानेपर उसे सिर चढ़ाकर वरण करते हैं तथा उसीमें अपना कल्याण मानते हैं। चौथे मानापमानकी सीमाको लाँघे हुए वे महात्मा मुक्त पुरुष हैं, जिनके मन मानापमान कोई वस्तु ही नहीं है। परंतु लोकसंग्रहार्थ सबमें परमात्माका अनुभव करके वे भी सबका सम्मान ही करते हैं। सबको प्रणाम ही करते हैं—

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥

(४)

स्वार्थत्याग

स्वार्थत्यागका शब्दार्थ होता है—'अपने प्रयोजन—अपने मतलबका त्याग।' असली स्वार्थत्यागी वही है जिसका किसी भी हेतुसे संसारमें अपना कोई प्रयोजन नहीं रह गया हो। जहाँतक प्रयोजन है, वहाँतक स्वार्थ है। अवश्य ही प्रयोजनके अनुसार ही स्वार्थके स्वरूपमें अन्तर होता है। जो अपने शरीरके आरामभरके लिये ही संसारमें कार्य करता है, वह भी स्वार्थी है और जो विश्वको अपना स्वरूप मानकर कार्य करता है, वह भी स्वार्थी है। परंतु दोनोंमें बड़ा अन्तर है। वह अन्तर है 'स्व'के संकोच और विस्तारका। जिसका 'स्व' जितना ही संकुचित है उसके प्रयोजनका स्वरूप भी उतना ही दूषित है और उतना ही वह अधिक स्वार्थी है। और जिसका 'स्व' जितना विस्तृत है उतना ही उसके प्रयोजनका स्वरूप भी दोषरहित है और उतना ही वह अधिक स्वार्थत्यागी है। किसीका 'स्व'—अपनापन शरीरमात्रमें सीमित है, किसी-

का परिवारमें, किसीका समाजमें, किसीका जातिमें, किसीका देशमें, किसीका विश्वमें और किसीका उस परमात्मातक विस्तृत है, जिसके एक-एक रोममें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड स्थित हैं। अपनेपनकी सीमाविस्तारके साथ ही त्यागकी मात्रा बढ़ती जाती है। और भगवान्‌में स्थित हो जाना ही त्यागका स्वरूप है। यही वास्तविक स्वार्थत्याग है, इससे पूर्वकी सभी अवस्थाएँ उत्तरोत्तर त्यागपूर्ण होनेपर भी हैं स्वार्थकी ही। परंतु जितना-जितना त्याग अधिक होता है, उतना-उतना ही त्याग करनेवाला पुरुष उतना त्याग न करनेवालोंकी अपेक्षासे स्वार्थत्यागी है। इसी परिभाषाके अनुसार अपने शरीरके आरामका खयाल छोड़कर कार्य करनेवाले पुरुष जगत्‌में न्यूनाधिकरूपमें स्वार्थत्यागी कहलाते हैं।

यह कहा जा चुका है कि स्वार्थकी सीमा जितनी ही अधिक संकुचित होती है, उतनी ही उसके अधिक दूषित होनेकी सम्भावना रहती है। क्योंकि संकुचित स्वार्थ मनुष्यको अन्धा बना देता है, इससे उसको केवल अपना प्रयोजन ही सूझता है। अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये वह दूसरेके प्रयोजनकी कुछ भी परवा नहीं करता, वरं मौका पड़नेपर दूसरेके प्रयोजनका नाश करके भी अपने प्रयोजनको सिद्ध करना चाहता है। इस स्वार्थान्धताके कारण ही जगत्‌का इतिहास रोमाञ्चकारी भयानक घटनाओंसे पूर्ण है। इसीके कारण विश्वासघात, चोरी, डकैती, ठगबाजी, धोखा होता है और निर्दोष प्राणियोंके और भाई-भाईके रक्तसे पृथ्वीके पवित्र रजकण रञ्जित होते रहते हैं। इसीके कारण घृणित-से-घृणित नृशंस हत्याकाण्डों और बुरे-से-बुरे पातकोंका प्रादुर्भाव जगत्‌में हुआ और हो रहा है और इसीके कारण परमात्माकी लीलाशक्तिका

आनन्दपूर्ण यह संसार सदा दुःख और अशान्तिसे पूर्ण भीषण नरक बना रहता है ।

परंतु भगवत्कृपासे प्राप्त हुए सत्सङ्ग और सद्ग्रन्थोंके अध्ययन एवं भगवद्भजनके प्रतापसे ज्यों-ज्यों संकुचित क्षुद्र स्वार्थका त्याग होता है और 'स्व' की सीमा आगे बढ़ती है, त्यों-ही-त्यों उस त्यागीके स्वार्थमें पवित्रता बढ़ती जाती है । इस 'स्व' की सीमाकी वृद्धिके कारण ही मनुष्य स्वयं कष्ट सहकर परिवारका पालन करता है, परिवारकी परवा न कर समाजकी सेवामें लग जाता है, समाजके स्वार्थको क्रमशः जाति, देश और विश्वके स्वार्थमें विलीन कर विश्वसेवाको ही अपनी सेवा, विश्वसुखको ही अपना सुख, विश्वात्माको ही अपना आत्मा मानने लगता है। इस दृष्टिसे होनेवाला देशात्मबोध ही सच्ची देशभक्ति है और विश्वात्मबोधमें ही सच्चा विश्वबन्धुत्व है।क्योंकि उस अवस्थामें देशका स्वार्थ ही अपना स्वार्थ और विश्वका प्रयोजन ही अपना प्रयोजन बन जाता है। जबतक क्षुद्र स्वार्थकी सीमामें मनुष्य विचरण करता है, तबतक वह देश और विश्वकी सेव का नाम लेता हुआ भी यथार्थ देशसेवा या विश्वसेवा नहीं कर सकता । जहाँ अपने क्षुद्र स्वार्थके साथ देशके या विश्वके स्वार्थमें विरोध उपस्थित होता है, वहाँ वह अपने क्षुद्र स्वार्थके लिये देश या विश्वके स्वार्थकी परवा नहीं करता । वह देश या विश्वके स्वार्थकी वेदीपर अपने स्वार्थकी बलि नहीं चढ़ा सकता। देश और विश्वकी सेवाके लिये देहात्मबोधसे कई स्तर ऊपर उठकर देशात्मबोध और विश्वात्मबोधकी विस्तृत भूमिपर पहुँचना पड़ता है । इस भूमिपर पहुँचे बिना ही जो देशभक्ति या विश्व-बन्धुत्वकी बातें या चेष्टाएँ होती हैं, वह तो प्रकारान्तरसे अपने क्षुद्र स्वार्थकी पूर्तिका साधनमात्र होती हैं, इसीसे ऐसे व्यक्तिगत

स्वार्थकी सीमाको न लाँघे हुए सेवकोंसे देशकी और विश्वकी यथार्थ सेवा कभी नहीं हो सकती। प्रस्तावमात्र होकर रह जाते हैं। यदि यथार्थतः किसी देशके या विश्वके मनुष्य देशात्मबोध या विश्वात्मबोधकी भूमिकापर पहुँच जायँ तो निश्चय ही वहाँका क्षुद्र स्वार्थमूलक वैर-विरोध, अरक्त या रक्तमय हत्याकाण्ड एवं असुख, अशान्तिका विनाश होकर यथाक्रम वह देश या विश्व सुखी हो सकता है। अवश्य ही यह सुख-शान्ति भी अपेक्षाकृत ही है, शाश्वत और पूर्ण नहीं; क्योंकि ये देश और विश्व और इनके विविध नामरूपमय पदार्थ सभी प्रकृतिके कार्य होनेसे परिवर्तनशील, अशाश्वत, क्षणभङ्गुर और विनाशी ही हैं।

यथार्थ सुख-शान्ति तो उस पूर्णतम परमवाञ्छनीय परम 'स्वार्थ' में रहती है जिसका स्वरूप ही परिपूर्णतम और शाश्वत दिव्य सुख-शान्तिरूप है और जिसको पहचानना ही पूर्णतम स्वार्थत्याग कहलाता है। वह हमारा परम स्वार्थरूप दिव्य आनन्दाम्बुधि रसिकशेखर ऐसा लीलामय खिलाड़ी है कि अनन्त-कोटि विश्व उसके भृकुटि-विलाससे, उसकी हास्य-रेखाके विकास-संकोचसे, लीलासे ही (अवश्य ही अपेक्षाकृत दृष्टिसे नियम-पूर्वक) सृजन और ध्वंस होते रहते हैं (वास्तवमें उसकी लीलाके नियमोंको वही जानता है)। उसके कृपाकटाक्षकणसे उसकी लीलाके रहस्यको किञ्चित् समझकर उसकी विविधरूपा नित्यानन्दमयी लीलामें आंशिकरूपसे भी सम्मिलित होनेका सौभाग्य प्राप्त करना ही परम स्वार्थत्याग है। ऐसा स्वार्थ-

त्यागी, भगवत्पदारविन्दमकरन्दमधुकर लीलानन्दी भक्त सांसारिक भोगों-की तो बात ही क्या है, परमदुर्लभ मुक्तिपदको भी चम्पककुसुम-सा मानकर उसके प्रति चञ्चरीक ही बना रहता है। कभी उसमें आसक्त होता ही नहीं! वह तो सहज ही केवल भगवान्‌के इशारेपर उन्हींका नचाया नाचा करता है। नृत्यमें पाद-निक्षेप कभी कोमल होते हैं, कभी कठोर। पृथ्वीको कँपा देनेवाला महाकाल रुद्रका प्रलयंकरी ताण्डव और मन्मथ-मन्मथ मोहनका विश्वविमोहन-रास—दोनों नृत्यके ही प्रकारान्तर हैं। इसी प्रकार भगवान्‌की भाँति भक्त भी उनके संकेता-नुसार नाचा करता है। यह निश्चय है कि भगवान्‌का प्रत्येक संकेत कल्याणमय है, चाहे देखनेमें वह कितने ही भीषण या क्रूर दृश्यको उत्पन्न करनेवाला क्यों न हो।

यह स्मरण रखना चाहिये कि हम जिस विश्वमें रहते हैं, यही एकमात्र विश्व नहीं है। न मालूम इससे बड़े और छोटे कितने असंख्य विश्व और हैं। फिर हम जिस विश्वमें हैं, उस विश्वके स्वरूपका भी पूरा ज्ञान हमें नहीं है, हम तो इस विश्वके एक छोटे-से जम्बूद्वीपका भी हाल नहीं जानते। हमारी वही दशा है जैसी हमारे शरीरके किसी क्षुद्र-से-क्षुद्र अंशमें रहनेवाले किसी क्षुद्र जीवाणुकी होती है जो दूसरे शरीर-की बात तो अलग रही, हमारे शरीरके दूसरे अवयवोंको भी नहीं देखता। अपने ही थोड़े-से दायरेमें विचरता है और उसीको सम्पूर्ण विश्व समझता है। ऐसी हालतमें जब हम अपने इस विश्वके ही स्वरूपको नहीं समझते तब अपनी क्षुद्रबुद्धिसे यह तो कैसे जान सकते हैं कि विश्वका हित किस बातमें है! जब एक विश्वके हितका ही पता नहीं तब उन अनन्त विश्वोंके

हिताहितको, जिनके साथ (इन सारे विश्वके एकमात्र आधार; इनके उत्पादक, पालक और संहारक सभी लीलाओंमें परम कल्याण करने वाले परमात्माकी दृष्टिसे) हमारे विश्वका और हमारा हिताहित संलग्न है, कैसे जान सकते हैं। विश्वके हिताहितको केवल परम कल्याणरूप सर्वलोकमहेश्वर भगवान् ही जानते हैं और इसीसे उनकी शक्तिकी प्रत्येक क्रिया स्वभावसे ही विश्वकल्याणके लिये होती है इसीसे उनकी प्रत्येक चेष्टामें परम कल्याण देखनेवाला उनका कृपापात्र भक्त एकमात्र उनके इशारेके अनुसार नाचनेका सौभाग्य प्राप्त करनेमें ही तमाम विश्वोंका और अपना परम मङ्गल देखता है, इसीलिये वह सब कुछ छोड़कर छोटे-बड़े तमाम स्वार्थोंको इस चरम परमार्थकी प्रेमाग्निमें होम कर देता है और लोक-परलोक तथा जन्म-जन्मान्तरकी सारी चिन्ताओंको छोड़कर मनचाही मुक्तिका भी तिरस्कार करते हुए अपने भगवान्‌के लीलाभिनयमें ही उनके संकेतानुसार निस्संकोच अभिनय करता रहता है।

इसीसे नृत्यगीत-कुशल लीलाविहारी नटनागर भगवान्‌ने अपने दिव्य गीत गीतामें परम अधिकारी भक्त अर्जुनको अपने लीलाभिनयके पात्र बनानेके लिये कृपापूर्वक कहा था—'तुम अपने मनको मेरे मनमें मिलाकर मेरे मनवाले बन जाओ, मेरे भक्त हो जाओ, मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो, सब धर्मोंको छोड़कर एकमात्र मेरी शरणमें आ जाओ !' यही सर्वगुह्यतम रहस्य है। अर्जुनने कहा—'अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह मिट गया। मैंने मोहवश ही आपके लील संकेतको न समझकर दुर्भाग्यकी ओर पैर बढ़ाया था। आपने

रहस्य खोलकर मुझको बचा लिया। अब आपकी कृपासे मेरे मनमें कोई सन्देह नहीं रहा। आप जो कहेंगे, वही करूँगा।' यही आत्म-समर्पण है, यही सम्पूर्ण स्वार्थत्याग है। अब अर्जुन नहीं कहते कि 'मैं भीष्म या द्रोणको नहीं मारूँगा अथवा उनको मारनेसे मुझको पाप लगेगा।' अब तो वह भगवान्‌के इशारेपर नाचनेको तैयार हो गये, पाप-तापकी सीमासे पार हो गये। पापकी सम्भावना तभी-तक थी, जबतक विजयके लिये, कीर्तिके लिये, राज्यके लिये या कौरवोंको शत्रु समझकर उन्हें मारनेके लिये युद्धकी तैयारी थी। अथवा सम्बन्धियोंके शरीर-वियोगको पाप मानकर उस पापसे बचनेके लिये अभिमान और मोहवश अर्जुन गाण्डीव पटककर वनकी राह और भीखके टुकड़ेकी ओर देखने लगे थे। भगवान्‌ने समझाया—'यों कर्म-से डरकर मत भागो, अहङ्कारवश किसी कर्मको छोटा-बड़ा मत समझो। यथायोग्य सब कर्मोंको सुचारुरूपसे करो, परंतु करो योगमें स्थित होकर, आसक्तिको त्यागकर, सिद्धि-असिद्धिमें समबुद्धि होकर; सब कुछ भलीभाँति करो, परंतु करो मेरे लिये; खाओ-पीओ; होम करो, दान करो, तप करो, सब कुछ करो, परंतु सब करो मेरे अर्पण। यह समझो कि मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता, भगवान्‌की शक्ति प्रकृति ही मुझसे सब कुछ करवा रही है। लड़ो—पर यह समझकर कि यह सब शरीर नाश होनेवाले हैं और आत्मा नित्य, अविनाशी और अप्रमेय है; लड़ो—सुख-दुःखको, हानि-लाभको और हार-जीतको मनमें समान अनुभव करके, फिर तुम्हें किसीके मारनेका पाप नहीं लगेगा; लड़ो—सब

कर्मोंको मुझ (श्रीकृष्ण—परमात्मामें) अध्यात्म बुद्धिसे सम
करके—यह समझकर कि मैं यह सब कर्म भगवान्‌की आज्ञ
भगवान्‌के लिये ही कर रहा हूँ । ऐसा समझकर और आशा, मम
तथा चित्तके संतापको त्यागकर । लड़ो—यह समझकर कि भी
द्रोणादि सब भगवान्‌के द्वारा मारे जा चुके हैं; मुझे तो भगव
अपनी लीलामें रखकर केवल निमित्त बना रहे हैं; तुम तो व
सर्वात्मसमर्पण करके निश्चिन्त हो रहो, पापोंसे मैं आप ही निपटूँग
तुम जरा भी चिन्ता न करो ।'

अर्जुन भगवान्‌के निर्वाचित लीलानुचर थे, अधिकारी थे । इसी
भगवान्‌ने उन्हें 'स्व' रूप दिखाकर गतसन्देह बनाकर उनको यथा
'स्व' रूपमें स्थित कर दिया । अर्जुनने भीष्म-द्रोणादिका संहार कर
कल्याणमय प्रभुके कल्याणमय कार्यको सम्पन्न करनेमें अपनेक
निमित्त बनाया । कालरूप भगवान्‌ने इस प्रकार मारकर सबको तार दिय

यह नहीं समझना चाहिये कि केवल सात्त्विक दीखनेवा
कर्मोंसे ही भगवान्‌की पूजा होती है । सत्त्व भी एक आवरण
ही है, इसे भी फाड़ना होगा । इससे भी परे पहुँचना होगा ।
वहाँ इस सत्‌-रज-तमरूप त्रिगुणका प्रवेश नहीं है । उस दिव्य
गुणमय परमधामसे निश्चित होकर वहींके संकेतसे इस
विश्वमें जो कुछ होता है, वह हमारी नजरसे देखनेमें चाहे
जैसा सत्त्वसे प्रतिकूल कार्य दीख पड़े—भयानक हिंसामय
या दोषमय मालूम हो; परंतु वह जगत्‌के परम
मङ्गलके लिये ही होता है । परंतु ऐसा कार्य केवल भगवान्‌की
कल्याणमयी शक्तिसे ही होता है, या उन आसक्ति, कामना

और अहंकारकी भूमिकासे ऊपर उठे हुए भाग्यवान् प्रेमानन्दमय पुण्य पुरुषोंके द्वारा होता दिखायी देता है जो भगवत्-शक्तिसे प्रेरित होकर भगवान्की लीलामें निमित्त बनते हैं। इस भगवत्प्रेममें एक विश्वका ही नहीं, समस्त विश्वोंका हित समाया रहता है; क्योंकि यह विश्वके हिताहितके सम्पूर्ण ज्ञाता सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परम सुहृद् भगवान्की शक्तिसे ही अनुप्राणित और संचालित होता है, यही वास्तविक विश्वसेवा है। परंतु सब लोग इस प्रकारसे सेवा न तो कर सकते हैं न सबका अधिकार ही है। यह अधिकार तो सिर्फ लीलानुचरोंको ही है।

जगत्के हम साधारण मनुष्योंके लिये तो अपेक्षाकृत ऊँचे-से-ऊँचा ध्येय विश्वके स्वार्थमें अपने स्वार्थको मिलाकर विश्वसेवामें नियुक्त होना ही है। इस भूमिकातक पहुँचनेपर ही, सबको आत्मरूप समझनेपर ही, सर्वभूतहितको आत्महित समझकर उसमें निरन्तर निरत होनेपर ही भगवान्की वह प्रेमरूपा पराभक्ति प्राप्त होती है। अतएव निम्नलिखित बातोंका खयाल रखकर यथासाध्य अधिक-से-अधिक स्वार्थत्याग करना चाहिये। यह याद रखना चाहिये कि जहाँ स्वार्थ है वहाँ प्रेम कदापि नहीं है और प्रेम बिना न तो लौकिक जीवन ही सुखमय हो सकता है और प्रेममय परमात्माकी प्राप्ति तो हो ही नहीं सकती।

(१) ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिये, जिसमें दूसरेके न्याय्य स्वार्थकी हानि हो।

(२) जहाँतक हो सके विषयोंकी आसक्ति, कामना और

अभिमानका त्याग करना चाहिये। आसक्ति, कामना और अभिमान स्वार्थको बहुत ही दूषित बनाकर हमसे दूसरोंकी बुराई कराते हैं, जिससे परिणाममें हमारा अत्यन्त अहित होता है।

(३) दूसरेके हितमें अपना हित, दूसरोंके लाभमें अपना लाभ माननेकी भावना करनी चाहिये।

(४) धन, मान, यश और पदकी कामना छोड़नेकी चेष्टा करनी चाहिये।

(५) दूसरोंका अनिष्ट करना बहुत बड़ा पाप है।

(६) दूसरेका हित करना बहुत बड़ा पुण्य है।

(७) जिस कार्यसे दूसरेका यथार्थ हित होता है उससे परिणाममें अपना अहित हो ही नहीं सकता।

(८) जिस कार्यसे दूसरेका परिणाममें अहित होता है उससे अपना हित हो ही नहीं सकता।

(९) अपने हितके लिये घरके दूसरे लोगोंका, परिवारके हितके लिये दूसरे परिवारका, जातिके हितके लिये दूसरी जातिका, धर्मके हितके लिये दूसरेके धर्मका, देशके हितके लिये दूसरेके देशका, राष्ट्रके हितके लिये परराष्ट्रका कभी अहित मत चाहो। ऐसा चाहनेवालोंका यथार्थ हित कभी नहीं हो सकता।

(१०) अपनी संतानकी भाँति ही भाईकी संतानसे स्नेह करो। तुम माता हो तो देवरानी, जेठानी या सासकी संतानपर वैसा ही स्नेह करो। खान-पान, वेष-भूषामें, किञ्चित् भेद न करो, भेद करना हो तो यह करो कि पहले उनका खयाल

रक्खो, अपनी संतानको कोई चीज न मिले तो न सही; परंतु उनकी संतानकी आवश्यकता पहले पूर्ण करनेकी चेष्टा करो। रसोईमें अपने या अपने पति-पुत्रोंके लिये कोई भी चीज छिपाकर न रक्खो। यह बात मामूली माळूम होती है, परंतु इस मामूली बातमें दोष आनेपर बड़े-बड़े घर कोर्टमें जाकर नष्ट हो गये हैं।

(११) याद रक्खो, श्रीराम और भरतजीमें इसीलिये युद्ध नहीं हुआ कि दोनों स्वार्थ-त्यागी थे। श्रीराम कहते थे 'राज्य तुम करो' और भरत कहते थे कि 'महाराज ! राज्यपर अधिकार आपका है।' परंतु कौरव-पाण्डवोंमें इसीलिये युद्ध हो गया कि वे दोनों ही अपने-अपने स्वार्थका त्याग करनेमें असमर्थ थे।

(१२) दूसरेको नीचा दिखाकर या नीचा दिखानेके लिये कभी ऊँचा बननेकी चाह मत करो।

(१३) दूसरेके दोषोंको स्वार्थवश कभी प्रकट न करो।

(१४) ऐसे किसी कानूनके बननेमें या किसी भी कार्यमें तन-मन-धनसे कभी सहायता मत दो जिससे किसी प्राणीका अहित होता हो।

(१५) दूसरेके स्वार्थको बचाकर ही अपना प्रयोजन पूरा करनेकी चेष्टा करो।

(१६) स्वार्थ मनुष्यको असत्य, अन्याय, हिंसा, चोरी, छल, दम्भ, कटुभाषण, कुव्यवहार, असदाचार आदि दोषोंका भण्डार बना देता है, जिससे आगे चलकर उसके स्वार्थकी बड़ी भारी हानि होती है। अतएव जिन कामोंमें इन दोषोंके आनेकी सम्भावना हो

उनमें अपने स्वार्थकी बड़ी हानि समझकर उन कामोंको छोड़ दो।

(१७) अनाजके व्यापारी हो तो अकालके समय अन्नके तेज हो जानेकी सम्भावनासे अन्नका संग्रह न करो।

(१८) वकील हो तो कभी यह न चाहो कि लोगोंकी ईमानदारी बिगड़े जिससे मुकद्दमे अधिक हों। मवक्किलोंको लड़ानेके लिये बुरी सलाह मत दो, झूठ मत सिखाओ, झूठा मुकद्दमा हो तो जहाँतक बने लड़नेसे उसे हटा दो। झूठी गवाहियाँ मत सजाओ।

(१९) मजिस्ट्रेट हो तो अपने स्वार्थ या कल्पित हितके मोहसे कभी अन्याय न करो।

(२०) जमींदार हो तो मोहवश धनके लालचसे किसानोंको मत सताओ।

(२१) किसान हो तो न्यायपूर्वक अपना पालन करनेवालेके न्याय्य हकको मारनेकी चेष्टा मत करो।

(२२) गुरु या आचार्य हो तो शिष्यको वहीं उपदेश दो जिससे उसका मन यथार्थ धर्म और भगवान्में लगे।

(२३) शिष्य हो तो गुरुकी सच्चे मनसे सेवा करनेमें मुँह न मोड़ो।

(२४) पुलिस-कर्मचारी हो तो लालचवश सत्यको झूठ और झूठको सच बनानेका कार्य न करो। गरीबोंको मत सताओ। लोगोंको सुख पहुँचे ऐसी चेष्टा करो।

(२५) दलाल हो तो दलालीके लिये व्यापारियोंको खरीदने-बेचनेमें धोखा मत दो।

(२६) व्यापारी हो तो माप, वजन, संख्या आदिमें सच्चे रहो, न ज्यादा लो, न कम दो, नमूना दिखलाकर घटिया माल मत दो। एक चीजमें दूसरी चीज मत मिलाओ, खानेकी चीजोंमें और चीजें मिलाकर स्वार्थी व्यापारी लोगोंके धन, धर्म और स्वास्थ्यके नाशमें कारण बनकर भारी पाप कमाते हैं। सावधान रहो।

(२७) डाक्टर या वैद्य हो तो लोभवश यह कभी मत चाहो कि लोगोंमें बीमारी अधिक फैले। न कभी ऐसी चेष्टा करो जिससे रोगीका रोग दीर्घकालव्यापी हो। तुम्हारी चेष्टासे कुछ होगा भी नहीं। पापका अवश्य संग्रह हो जायगा।

(२८) गरीबोंका पेट भरनेके लिये जिन चीजोंकी जरूरत हो, उनकी दर महँगी करनेकी चेष्टा लोभवश मत करो।

(२९) गरीब नौकरों और मजदूरोंको इतना मेहनताना तो जरूर दो जिससे उनका पेट भरे। उनके पैसे कभी मत काटो।

(३०) धनसे, विद्यासे, चातुरीसे, रोबसे, अधिकारसे किसीके हकको मारने या छीननेकी चेष्टा या चाह कभी न करो।

(३१) गरीबोंकी गरीबी बढ़े ऐसा काम लोभवश न करो।

(३२) गरीबोंकी आजीविका मारनेकी परोक्ष या अपरोक्ष-रूपसे कभी चाह या चेष्टा न करो।

(३३) परिवारके सब लोगोंका अपनी कमाईमें ईश्वरदत्त अधिकार समझो। यह अभिमान मत करो कि मैं अकेला कमाता हूँ और सब तो सिर्फ खानेवाले ही हैं।

(३४) याद रक्खो—छोटेसे गढ़ेमें इकट्ठा हुआ जल सड़

जाता है, उसमें कीड़े पड़ जाते हैं। बहनेवाला जल ही पवित्र और निर्मल होता है। इसी प्रकार जो धन केवल संग्रहमें रहता है, वह गंदा हो जाता है और अन्तमें सड़कर दुर्गन्ध पैदा करके लोगोंको दुखी बनाकर नष्ट हो जाता है। बाँटनेसे धन बढ़ता है—त्यागसे अपने आप आता है। अतः धनके त्यागमें—दानमें सच्चा स्वार्थ समझो।

(३५) सबसे प्रेम बढ़ानेकी चेष्टा करो। याद रक्खो, निःस्वार्थ सेवासे प्रेम अवश्य ही बढ़ता है। अतएव सबकी यथायोग्य यथासाध्य निःस्वार्थ सेवा करनेका प्रयत्न करो।

(३६) स्वार्थसिद्धिके लिये किसीको झूठा सिद्धान्त मत बतलाओ, जान-बूझकर धोखा न दो।

(३७) याद रक्खो—शरीर नश्वर है, यहाँका कुछ भी साथ नहीं जायगा। अतएव स्वार्थवश पाप न बटोरो।

(३८) किसी भी अनाथ, असहाय पुरुष, बालक या विधवा स्त्रीकी सेवासे न हटो, जहाँतक हो उनकी रक्षा करो। समाजमें उनपर अत्याचार न हो, उनके हकको कोई खा न जायँ, ऐसी चेष्टा करो। स्वयं कभी स्वार्थवश इनका स्वत्व रख लेनेकी चाह या चेष्टा न करो। यह महापाप है।

(३९) ब्राह्मणहित, सत्सङ्ग, श्रीहरिकथा, दान, भगवत्पूजन, सेवा और परोपकार आदि कार्योंका स्वार्थवश कभी विरोध न करो। न कभी विरोध करनेवालोंका तन-मनसे समर्थन ही करो। वरं इनके प्रचारकी चेष्टा करो।

(४०) अपने किसी भाई या व्यापारमें हिस्सेदारकी

सरलताका अनुचित लाभ उठाकर उनका हक मारनेकी कभी चेष्टा न करो। हिस्सेदारी चालू रहते समय या अपना हिस्सा अलग करते समय चालाकीसे उनके हकका एक पैसा या झाड़ूका एक तिनका भी लेनेकी न कभी चाह करो, न चेष्टा।

(४१) अपनी कीर्तिके लिये दूसरेकी कीर्तिको मिटानेका जतन कभी न करो।

(४२) दूसरेकी सफलतामें विना हक हिस्सेदार बननेके लिये कभी चेष्टा मत करो।

(४३) किसीको दबाकर, दु:ख देकर, बातोंमें फँसाकर, झूठा लोभ दिखलाकर अपना काम निकालनेकी चेष्टा न करो।

(४४) देवताओंकी पूजा करो, ब्राह्मणभोजन कराओ, गरीबोंको यथासाध्य दान दो; परंतु बदला कुछ भी मत चाहो।

(४५) जप-तप करो; यज्ञ-याग करो; देश, काल, पात्रमें दान करो, परंतु उसका कुछ भी फल मत चाहो। जो कुछ करो केवल श्रीभगवान्‌के लिये ही करो।

(४६) भजनमें किसी प्रकारकी भी शर्त मत करो। भजन करते-करते भगवान्‌की दया प्राप्त हो जाय और भगवान् कभी प्रसन्न होकर मुक्ति भी देना चाहें तो यही कहो कि भगवन्! अवश्य ही मैं आपका नि:स्वार्थ सेवक नहीं हूँ। मेरे मनमें मुक्तिकी कामना छिपी थी, इसीसे तो आप मुक्ति दे रहे हैं। भगवन्! मुझे मत लुभाइये। मुझे तो आप अपने चरण-सेवकोंमें ही रखिये और ऐसा वरदान दीजिये, जिसमें कुछ भी लेन-देनका प्रश्न कभी उठे ही नहीं।

समता

यह सारा संसार श्रीभगवान्‌का पसारा है। भगवान्‌के सिवा कहीं कुछ भी नहीं है। भगवान् स्वयं अपने ही अंदर जगत्-रूपसे प्रकट हैं। भगवान् ही स्वयं जगत्‌के अंदर परिपूर्ण हैं। भगवान् ही जगत्‌के समस्त प्राणियोंके हृदयमें आत्मारूपसे विराजमान हैं। भगवान् ही नाना प्रकारके विचित्र भावों, पदार्थों, द्वन्द्वों और देशकालादिके रूपमें प्रकाशित हैं, अतएव जो पुरुष सर्वत्र निर्दोष और समरूपसे श्रीभगवान्‌को देखता है, वही यथार्थ देखता है। इसी यथार्थ दर्शनका नाम वास्तविक समता है, इस समताका सम्बन्ध आत्मासे है। इसी सम्बन्धको सदा ध्यानमें रखकर मन, वाणी और शरीरसे संसारमें व्यवहार करना चाहिये। व्यवहारमें बाहरसे उचित विषमता रहनेपर भी आत्मदृष्टिसे कोई विषमता नहीं रहनी चाहिये। जैसे एक ही शरीरके मस्तक और चरण, हाथ और पैर, मुख और गुदा आदि अङ्गोंकी बनावटमें, उनकी क्रियाओंमें, उनके व्यवहारमें, उनकी उपयोगितामें और उनमेंसे कुछके पवित्र या अपवित्र स्वरूपमें बड़ी भारी विषमता रहनेपर भी शरीरमें सर्वत्र समरूपसे आत्मभाव होनेके कारण मनुष्य इन सभी अङ्गोंके सुख-दुःखको समदृष्टिसे देखता है। इसीलिये वह अपने प्रत्येक अङ्गसे प्रत्येक अङ्गकी पुष्टि, रक्षा और सहायतार्थ उनका यथायोग्य व्यवहार करनेके लिये स्वाभाविक ही सदा तैयार रहता है। मस्तक हो या चरण, उदर हो या उपस्थ, किसी भी उच्च या नीच अङ्गपर आघात लगनेकी सम्भावना होते ही हाथ सदा उसे बचानेको तैयार रहते हैं। पैरमें कहीं काँटा न

चुभ जाय, इसके लिये आँखें सदा सतर्क रहती हैं और तीखी नजरसे राहकी ओर देखा करती हैं। काम सब अपनी-अपनी योग्यतानुसार करते हैं और इनमें परस्पर ऊँचा-नीचा स्थान और पद भी है, परंतु सभी परस्पर सम्बन्धित हैं, सभी एक ही शरीरके विभिन्न अङ्ग हैं और अपने-अपने स्थानपर सभीकी एक-सी उपयोगिता है। मनुष्य इन अपने अङ्गोंसे अलग-अलग काम लेता हुआ भी न तो किसी अङ्गकी अवहेलना ही करता है और न किसीके साथ विशेष प्रेम या किसीके साथ घृणा या द्वेष ही करता है। उसका सभीमें समान प्रेम है। यहाँतक कि गुदा और उपस्थ इन्द्रियके छू जानेपर वह हाथ धोना तो आवश्यक समझता है, परंतु उनमें उसका अपनापन या ममत्व किसी प्रकार भी कम नहीं है। इसी प्रकार समतायुक्त पुरुष समस्त विश्वके प्राणियोंको अपने ही विराट् शरीरके विभिन्न अङ्ग मानकर उनमें यथायोग्य विषम व्यवहार करता हुआ भी सबके प्रति समभाव रखता है और सबके सुख-दुःखको अपने ही समान समझता है। श्रीभगवान् कहते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(गीता ६। ३२)

'अर्जुन! जो पुरुष अपनी ही तरहसे सारे जगत्में और सबके सुख-दुःखमें समरूपसे देखता है वही श्रेष्ठ योगी माना जाता है।'

अवश्य ही इस समतामें भी बाहरी व्यवहारमें तो विषमता रहती ही है; क्योंकि व्यवहार सारा प्रकृतिमें होता है और प्रकृतिका यह व्यक्त स्वरूप ही विषमताके कारण बना है।

जिस समय प्रकृति साम्यावस्थामें होती है, उस समय तो वह अव्यक्त ही रहती है। प्रकृतिकी यह विषमता नष्ट हो जाय तो जगन्नाटकके स्वामी लीलामय भगवान्‌का यह सारा चित्र-विचित्र खेल ही खतम हो जाय, परंतु ऐसा होता नहीं ! विभिन्न प्रकृतिके मनुष्य, पशु, पक्षी, व्यवहारोपयोगी सब बातोंमें समान कभी नहीं हो सकते। उनमें आत्माके भावसे समता देखी जाती है और इसीलिये उनके सुख-दुःखका खूब खयाल रखकर उनको सुख पहुँचाना समतायुक्त पुरुष-का स्वभाव हो जाता है। भगवान्‌ने ऐसे ही सर्वत्र आत्मदर्शी समता-युक्त पुरुषको पण्डित बतलाया है और वहाँ ऐसे पाँच जीवोंका नाम लिया है, जिनमें परस्पर इतना भेद है, जो मिटाया नहीं जा सकता। भगवान्‌ने कहा है—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(गीता ५ । १८)

'विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मणमें, गौमें, हाथीमें, कुत्तेमें और चाण्डालमें समभावसे देखनेवाले ही पण्डित हैं।'

इस श्लोकमें बतलाये हुए पशुओंमें तो आकार-प्रकार, व्यवहार-आहार, उपयोगिता और गुण आदिमें अपरिहार्य भेद है ही। विद्या-विनयसे युक्त ब्राह्मण और कुत्तेका मांस खानेवाले चाण्डालमें भी भेद स्पष्ट ही है। इतने भेदवाले प्राणियोंमें समदृष्टि रखनेकी बात आत्माकी दृष्टिसे ही कही जा सकती है; क्योंकि व्यवहारमें तो इनमें समता असम्भव ही है। प्रकृतिके किसी भी क्षेत्रमें यह विषमता कभी नहीं मिट सकती। रात और दिनमें, सुबह और शाममें, आग और पानीमें, सोने और मिट्टीमें, गर्मी और सर्दीमें, मीठे और

कड़वेमें, वृद्ध और बालकमें, लाभ और हानिमें व्यावहारिक दृष्टिसे भेद रहेगा ही। सोना सब सोना ही है, परंतु कानमें सोनेकी बाली पहनी जायगी, अँगुलीमें अँगूठी पहनी जायगी और हाथोंमें कड़े ही पहने जायँगे। न हाथोंके कड़े नाक-कानमें पहने जायँगे और न कान-नाककी बाली और अँगूठी हाथोंमें हो। लोटा और थाली दोनों ही पीतलके हैं, परंतु पाखानेमें थाली कोई नहीं ले जायगा। मा, बहिन और पत्नीके अवयव एक-से ही हैं; परंतु पत्नीको जिस दृष्टिसे देखा जाता है, उस दृष्टिसे मा-बहिनको देखना महापाप माना जाता है और स्वाभाविक ही वैसी दृष्टि ही नहीं होती। आजकल कुछ लोगोंकी ऐसी धारणा हो रही है कि स्त्री-पुरुष—सभी मनुष्योंका सभी कामोंमें पूर्ण अधिकार है, परंतु यह भ्रम है। अधिकार योग्यतानुसार ही होता है। सभी मनुष्योंमें बुद्धि, बल, स्वास्थ्य, क्रियाशक्ति, धारणशक्ति, विवेक आदि एक-से नहीं होते। पूर्वजन्मोंके कर्मानुसार स्वाभाविक ही इनमें न्यूनाधिकता होती है। अतएव जिसकी जिस कार्यमें जैसी स्वाभाविक योग्यता हो, उसके लिये वही काम स्वाभाविक है और उसीको वह आसानीसे कर सकता है। कहीं-कहीं इसमें व्यतिक्रम भी होता है; परंतु वह अपवादमात्र है। इस प्रकार योग्यतानुसार कर्मोंमें और बाहरके व्यवहारमें बड़ा भारी भेद होनेपर भी आत्मामें कुछ भी भेद नहीं है। अतएव इस आत्मदृष्टिसे ही सबको सम देखते हुए हमें संसारमें व्यवहार करना चाहिये। समताका व्यवहार करनेवालेमें क्या-क्या विशेषताएँ होती हैं, संक्षेपमें नीचे उनका दिग्दर्शन कराया जाता है।

१—वह स्वाभाविक ही सब भूतोंके हितमें लगा रहता है।

२—वर्ण, जाति, धन, पद आदिमें कितना ही ऊँचा क्यों न माना जाता हो, वह अपनेमें उच्चताका अभिमान तनिक भी नहीं रखता।

३—किसी भी मनुष्यका अपमान नहीं करता।

४—किसी भी जीवसे घृणा नहीं करता।

५—वह सहिष्णु होता है, सबकी सेवा करना चाहता है, सबका सम्मान करता और स्वार्थका त्यागी होता है।

६—दाँतोंके द्वारा जीभ कट जानेपर जैसे हम दाँतोंको दण्ड नहीं देना चाहते, न जीभ ही यह आग्रह करती है कि दाँत तोड़ दिये जायँ। क्योंकि सबमें समान आत्मीयता है। इसी प्रकार समतायुक्त प्राणी किसी भी प्राणीको कष्ट किसी भी हालतमें पहुँचाना नहीं चाहता।

७—दूसरेके दुःख और अभावको मिटानेमें सदा सचेष्ट रहता है और उसे अपने ही समान समझकर क्रियात्मक सहानुभूति रखता है।

८—मानापमान, निन्दा-स्तुति, लाभ-हानि आदिमें समदृष्टि रखता है।

९—यथायोग्य न्याययुक्त व्यवहार करता है; परंतु मनमें सदा सर्वत्र समता बनाये रखता है।

१०—सुखकी घटनामें फूलता नहीं और दुःखकी घटनामें दुखी नहीं होता।

११—किसीसे द्वेष नहीं करता और सबका मित्र होता है।

१२—अहङ्कार, ममता और राग-द्वेषका त्यागी होता है।

द्वितीय खण्ड

पञ्चसकार

[प्रयोग २]

पहले खण्डमें पञ्चसकारका एक प्रयोग आया है। उसमें सहिष्णुता, सेवा, सम्मानदान, स्वार्थत्याग और समता—इन पाँच सकारोंकी चर्चा की गयी है। अब दूसरे खण्डमें दूसरे प्रयोगका निर्वचन है। इसमें—**सत्सङ्ग, सदाचार, संतोष, सरलता और सत्य**पर क्रमशः विचार किया जाता है।

(१)

सत्सङ्ग

वस्त्राण्यपस्तिलान् भूमिं गन्धो वासयते यथा।
पुष्पाणामधिवासेन तथा संसर्गजा गुणाः॥
मोहजालस्य योनिर्हि मूढैरेव समागमः।
अहन्यहनि धर्मस्य योनिः साधुसमागमः॥
तस्मात् प्राज्ञैश्च वृद्धैश्च सुस्वभावैस्तपस्विभिः।
सद्भिश्च सह संसर्गः कार्यः शमपरायणैः॥

(महाभारत)

'जिस प्रकार फूलोंके संसर्गसे उनकी गन्ध वस्त्र, जल, तिल और भूमिको सुवासित कर देती है, वैसे ही संसर्गसे होनेवाले गुण भी अपना असर करते हैं। विषयासक्त, मूढ़ पुरुषोंका समागम मोह-जालकी उत्पत्तिका कारण है और प्रतिदिन साधु-महात्माओंका समागम करना धर्मकी

उत्पत्तिका हेतु है। अतएव ज्ञानी महात्माओं, अनुभवी वृद्धों, उत्तम स्वभाववाले तपस्वियों और परम शान्तिको देनेवाले सत्पुरुषोंका ही संसर्ग रखना चाहिये।'

कुसङ्ग

मनुष्यके उत्थान और पतनके जितने कारण हैं, उनमें सङ्ग एक प्रधान कारण है। सङ्गके अनुसार ही मनुष्यका मन बनता है और मनके अनुसार ही मनुष्यसे क्रिया होती है एवं क्रियाके अनुसार ही उसका फल मिलता है। अच्छे हृदयका मनुष्य भी नीच सङ्गसे नीच मनवाला होकर गिर जाता है और असदाचारी मनुष्य भी उत्तम सङ्ग पाकर असदाचारसे छूटकर महात्मा बन जाता है। परंतु इतना याद रखना चाहिये कि बुरे सङ्गका प्रभाव साधारण मनुष्यपर जितना शीघ्र और विशेषरूपसे पड़ता है, उतना शीघ्र और उतनी मात्रामें उत्तम सङ्गका प्रभाव नहीं पड़ता। कारण यह है कि प्रकृति स्वभावतः अधोगामिनी है, अतएव जैसे जल स्वभावसे ही नीचेकी ओर बहता है, इसी प्रकार प्रकृतिके गुणोंमें स्थित पुरुष भी स्वभावतः पतनकी ओर ही जाता है। उसमें यदि कुसङ्गकी सहायता मिल जाती है तो जैसे ऊपरसे गिरता हुआ मनुष्य धक्का लग जानेपर और भी बहुत शीघ्र गहरे गढ़ेमें गिर जाता है, वैसे ही कुसङ्गके धक्केसे मनुष्यका पतन बहुत ही शीघ्र तथा गहरा हो जाता है। विषयोंकी आसक्ति, जन्म-जन्मान्तरके दूषित संस्कार, वातावरणका प्रभाव आदि ऐसे कितने ही कारण हैं जो उत्थानके मार्गमें सदा ही बाधक बने रहते हैं। इसलिये अच्छे सङ्गका असर साधारण मनुष्यपर देरसे और कम मात्रामें होता है। पतन तो निर्बलतामें, अँधेरेमें या

अनायास ही हो जाता है; परंतु उत्थानमें बलकी, प्रकाशकी और प्रयासकी आवश्यकता होती है। पतन ध्वंस है, उत्थान निर्माण–यह सभी जानते हैं कि ध्वंस सहज है; परंतु निर्माण बहुत कठिन है। ध्वंसमें जरा-सी सहायता भी बहुत काम करती है, परंतु निर्माणमें बहुत सहायताकी आवश्यकता पड़ती है। इसीलिये यह सिद्धान्त मानना पड़ता है कि साधारण मनुष्यपर कुसङ्गका असर बहुत शीघ्र होता है और सत्सङ्गका देरमें। अतएव कुसङ्गका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

कुसङ्गसे केवल बुरे आचरण और बुरे भाववाले मनुष्योंका सङ्ग ही नहीं समझना चाहिये। इन्द्रियोंका और मनका कोई भी विषय जो हमारे अन्तःकरणमें दुष्ट भाव, दुष्ट विचार और विषयोंके प्रति आसक्ति उत्पन्न करके भगवान्‌के पवित्र पथमें बाधा देनेवाला या उससे गिरानेवाला हो, उसीको कुसङ्ग समझना चाहिये। १–स्थान, २–अन्न, ३–जल, ४–परिवार, ५–अड़ोस-पड़ोस, ६–दृश्य, ७–साहित्य, ८–आलोचना, ९–आजीविकाके कार्य और १०–उपासनापद्धति, कम-से-कम ये दस चीजें ऐसी हैं जो अच्छी होने-पर हमारे अन्तःकरणको अच्छा या ऊँचा बना सकती हैं और बुरी होनेपर हमें बुरा बनाकर गिरा सकती हैं। इसलिये जिस वस्तुसे जरा भी पतनकी सम्भावना हो ऐसी किसी भी चेतन या जड वस्तुको जहाँतक हो सके नहीं देखे, ऐसी कोई बात न सुने, ऐसी कोई चर्चा न करे, ऐसे किसी वातावरणमें न रहे, ऐसा कोई अन्न न खाय, ऐसा साहित्य न पढ़े, ऐसी कोई आजीविकाका कार्य न

करे और न ऐसी कोई उपासना ही करे। कुसङ्गका ज्यों-ज्यों प्रभाव होता है, त्यों-ही-त्यों मनुष्यकी बुद्धि वैसी ही बनने लगती है। यहाँतक कि सात्त्विक पुरुषोंकी बुद्धि भी कुसङ्गके प्रभावसे राजस-भावापन्न होकर अच्छे-बुरेका यथार्थ निर्णय करनेमें असमर्थ हो जाती है और उसी राजस बुद्धिपर जब कुसङ्गका विशेष प्रभाव पड़ जाता है, तब तो वह विपरीत ही निर्णय करती है।* इस अवस्थामें मनुष्य पहले जिस बातको बुरी समझता था, उसीको अच्छी समझने लगता है। फलतः उसको अपने पतनका पता नहीं लगता, बल्कि वह पतनको ही उत्थान समझने लगता है और प्रयत्नपूर्वक बड़ी तेजीसे पतनकी ओर अग्रसर हो जाता है।

यद्यपि वातावरण और अन्न-जलादिके सङ्गका प्रभाव कम नहीं पड़ता तथापि इन सबसे अधिक प्रभाव मनुष्यके सङ्गका पड़ता है। इसीलिये साधारणतया महात्मा पुरुषोंके सङ्गको सत्सङ्ग और बुरे मनुष्योंके सङ्गको कुसङ्ग कहा जाता है। इस-

---

* यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥
(गीता १८। ३१-३२)

'अर्जुन! जिस बुद्धिसे धर्म और अधर्मका तथा कर्तव्य और अकर्तव्यका यथार्थ निर्णय नहीं होता वह बुद्धि राजसी है और जो तमसे आवृत हुई बुद्धि अधर्मको धर्म मानती है और सभी बातोंमें विपरीत निर्णय करती है, वह तामसी है।'

कुसङ्गसे क्या होता है ?

१–परचर्चा, परनिन्दामें प्रीति होती है ।

२–विषयासक्ति और भोगकामना बढ़ती है ।

३–काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मत्सर—इन छः भीतरके शत्रुओंका बल बढ़ता है तथा इनकी नींव मजबूत होती है ।

४–दम्भ, दर्प, अभिमान, असहिष्णुता, अविवेक, असत्य, कायरता, निर्दयता, वैर, हिंसा आदि दुर्भाव और दुर्गुणोंकी उत्पत्ति तथा वृद्धि होती है ।

५–राग, द्वेष, इच्छा, वासना और अहंकारकी वृद्धि होकर अज्ञानका परदा और भी घना तथा मजबूत हो जाता है ।

६–भाँति-भाँतिके दुराचार और पाप बढ़ते हैं, जिनके फलस्वरूप दुःख, दरिद्रता, आधि-व्याधि, निन्दा-अपमान, विषाद-शोक तथा बारंबार जन्म-मृत्युकी प्राप्ति होती है और भीषण नरक-यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ती हैं ।

श्रीमद्भागवतमें भगवान् कपिलदेव कहते हैं—

यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः ।
आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत् ॥
सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्रीर्ह्रीर्यशः क्षमा ।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति संक्षयम् ॥
तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु ।
सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च ॥

(३ । ३१ । ३२-३४)

'जो मनुष्य शिश्नोदरपरायण (स्त्री और भोगोंमें ही आसक्त तथा उन्हींके लिये चेष्टा करनेवाले) नीच पुरुषोंका सङ्ग करके उनके जैसा बर्ताव करने लगता है, वह उन्हींकी भाँति अन्धकारमय नरकोंमें जाता है; क्योंकि कुसङ्गसे सत्य, पवित्रता, दया, चित्तकी संकल्पशून्यता या मननशीलता, बुद्धि, श्री, लज्जा, कीर्ति, क्षमा, मनका वशमें रहना, इन्द्रियोंका वशमें रहना और ऐश्वर्य आदि सब गुणोंका नाश हो जाता है। अतएव ऐसे अशान्तचित्त, मूर्ख, खण्डित बुद्धिवाले, स्त्रियोंके हाथकी कठपुतली बने हुए, शोचनीय, असाधु, दुष्ट मनुष्योंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये।'

सब प्रकारके कुसङ्गोंमें स्त्रियोंका सङ्ग विशेष हानिकर है। इसीलिये कहा गया है—

न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः।
योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः॥
सङ्गं न कुर्यात्प्रमदासु जातु
योगस्य पारं परमारुरुक्षुः।
मत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो
वदन्ति या निरयद्वारमस्य॥
(श्रीमद्भा० ३। ३१। ३५, ३९)

'दूसरोंके सङ्गसे उसको वैसा मोह और बन्धन नहीं होता, जैसा कि युवती स्त्रियोंके सङ्गसे तथा उनके सङ्गियोंके सङ्गसे होता है। मेरी (भगवान्‌की) सेवासे जिसको आत्मस्वरूपकी उपलब्धि हुई है और जो योगकी चरमावस्थापर आरूढ होना चाहता है, उसको युवती स्त्रियोंका सङ्ग कदापि नहीं करना चाहिये; क्योंकि

मुमुक्षु पुरुषके लिये वे नरकके द्वार हैं।' 'तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्' आदिसे भी इसी बातकी पुष्टि होती है। इसी प्रकार स्त्रियोंके लिये युवकोंका सङ्ग हानिकर है। स्त्री-पुरुषोंके साथ रहनेसे परस्पर आकर्षण होता है, उससे चित्तवृत्तियाँ दूषित होती हैं, फिर दोनों आचरण-भ्रष्ट हो जाते हैं।

बात यह है कि जिस किसी भी वस्तुसे चित्तका अनित्य भोगोंकी ओर आकर्षण होता है, वही वस्तु कुसङ्ग है। इसलिये शास्त्रकारोंने विषयसम्बन्धी बातचीतसे भी बचनेके लिये चेतावनी दी है; क्योंकि विषयोंकी बातें होनेके कारण विषयोंका चिन्तन होता है और उस चिन्तनद्वारा क्रमशः आसक्ति, कामना, क्रोध, सम्मोह, स्मृतिभ्रंश और बुद्धिनाश होकर मनुष्यका सर्वनाश हो जाता है।* इसीसे कहा गया है—

जनो विषयिणा साकं वार्तातः पतति क्षणात्।
विषयं प्राहुराचार्याः सितालिप्तेन्द्रवारुणीम्॥
(शिवपुराण)

'विषयासक्त मनुष्योंके साथ बातचीत करनेसे मनुष्य तुरंत

---

* ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥
(गीता २। ६२-६३)

कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात्।
(नारदभक्तिसूत्र ४४)

ही पतित हो जाता है। आचार्योंने विषयको मिश्रीमें सनी हुई मदिरा बतलाया है।'

और जिन लोगोंका आचरण दूषित है, उनका सङ्ग तो बिल्कुल ही छोड़ देनेके लिये शास्त्रोंकी आज्ञा है; क्योंकि—

> सम्भाषाद्दर्शनात्स्पर्शादासनाद् भोजनात्किल।
> पापिनां सङ्गमाच्चैवं किल्बिषं परिसञ्चरेत्॥
>
> (पद्मपुराण)

'उन पापी मनुष्योंके साथ बातचीत करने, उन्हें देखने, उनका स्पर्श करने, उनके साथ बैठने, एक पंक्तिमें भोजन करने तथा उनके सङ्ग रहनेसे ही उनका पाप अपनेमें आ जाता है।'

इसलिये बड़ी ही सावधानीसे मनुष्यको कुसङ्गसे बचकर सत्सङ्ग करना चाहिये।

सत्सङ्ग

स्थान, अन्न, जल आदि उपर्युक्त दसों चीजें अच्छी होनेपर सत्सङ्गका काम देती हैं—इसका निर्देश किया जा चुका है। जिन वस्तुओंसे हमारे अन्तःकरणमें स्थित दुष्ट विचारोंका नाश होकर सद्विचारोंकी उत्पत्ति हो और चित्तवृत्तिकी गति भगवान्‌की ओर होने लगे, वही विषय सत्स्वरूप परमात्माके साथ हमारा सम्बन्ध करानेवाला होनेके कारण 'सत्' है और उसका सङ्ग सत्सङ्ग है। इसलिये जहाँतक बन सके देखने-सुनने, चर्चा करने, खाने-पीने, पढ़ने-लिखनेके विषय तथा आजीविकाका कार्य, वातावरण एवं उपासनापद्धति सभी ऐसे होने चाहिये जो हमारे चरित्र-सुधारमें, उत्थानमें सहायता देनेवाले हों। जैसे कुसङ्गसे बुद्धि राजसी-तामसी हो जाती है, वैसे ही सत्सङ्गसे बुद्धि क्रमशः तमोगुण और रजोगुणसे ऊपर

उठकर सात्त्विकी बन जाती है। सात्त्विकी बुद्धि यथार्थ निर्णय करती है और उसके प्रभावसे मनुष्य अपने वास्तविक कर्तव्यको पहचानकर उसपर आरूढ़ हो जाता है।* मनुष्यकी तमसावृत बाहरी आँखें सत्सङ्गके प्रकाशसे ही खुलती हैं और सत्सङ्गके बलसे ही वह उठकर उत्थानकी ओर अग्रसर होनेका प्रयास कर सकता है। अब देखिये इस—

सत्सङ्गसे क्या होता है?

१—संत और भक्तोंके आचरण प्रिय मालूम होते हैं और संतके आचरण एवं भक्तिकी प्राप्तिके लिये मन मचल उठता है।

२—भगवच्चर्चा, भगवद्गुणनामकीर्तन, भगवद्गुणनामश्रवण और भगवच्चिन्तनमें मन लगता है।

३—भगवान्‌के गुण, प्रभाव, रहस्य और प्रेमकी बातें सुननेसे तथा भजन करनेसे विषयासक्ति एवं भोगकामनाका नाश होकर भगवान्‌में अनुरक्ति और भगवत्प्राप्तिकी कामना होती है।

४—भोगोंसे सच्चा वैराग्य होता है जिससे चित्त प्रमादशून्य, शान्त, प्रसन्न और ध्यानमग्न बन जाता है।

---

* प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
(गीता १८। ३०)

'पार्थ! प्रवृत्ति और निवृत्ति, कर्तव्य और अकर्तव्य, भय और अभय तथा बन्धन और मोक्षको जो बुद्धि यथार्थरूपसे जानती है, वही सात्त्विकी है।'

५—अन्तःकरणमें स्थित कामादि समस्त शत्रुओंका नाश होकर निर्भयता आदि दैवी सम्पदाके छब्बीस गुणोंकी उत्पत्ति तथा वृद्धि होती है ।

६—अनुकूलता-प्रतिकूलता, राग-द्वेष, ममता-अहंकार और अज्ञानका नाश होता है ।

७—स्वाभाविक ही तन, मन, धनसे संसारके जीवोंकी सेवा बनती है ।

८—सर्वत्र सब प्राणियोंमें सदा-सर्वदा और सर्वथा भगवद्दर्शन होने लगते हैं ।

९—भगवान्‌का तत्त्वज्ञान होकर सनातन दिव्य आनन्द और परम शान्ति तथा दिव्य परम प्रेमकी प्राप्ति होती है ।

१०—परम मधुर और परम आत्मीय अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यके सागर भगवान्‌की परम सेवाके सामने मुक्ति भी तुच्छ प्रतीत होने लगती है ।

स्वयं भगवान् कहते हैं—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः ।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १२ । १-२)

'उद्धव ! दूसरे समस्त सङ्गोंका निवारण करनेवाले (मेरे लीला-गुणका प्रकाश करनेवाले) सत्सङ्गके द्वारा मैं जैसा वशमें होता

हूँ, वैसा योग, ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप, त्याग, इष्टापूर्त, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम और नियम--किसीसे नहीं होता।'

जिस सत्सङ्गसे स्वयं भगवान् वशमें हो जाते हैं, उससे बढ़कर और कौन-सी वस्तु या साधन हो सकती है ?

यह सत्सङ्ग जिन-जिन महात्मा सत्पुरुषोंसे प्राप्त होता है, उन्हींको प्राप्त करनेकी चेष्टा मनुष्यको अपने जीवनकी बाजी लगाकर करनी चाहिये। यह चेष्टा ही साधना है। वास्तविक संत या महात्मा पुरुष मिल जायँ और उन्हें हम पहचान लें, फिर तो मानव-जीवनकी सर्वोपरि सफलतामें कोई संदेह ही नहीं रह जाता। परंतु जबतक वैसे पुरुष न मिलें तबतक श्रद्धापूर्वक अन्यान्य सद्‌वस्तुओंका, सच्छास्त्रोंका और सात्त्विक वृत्तिवाले श्रेय-साधकोंका सङ्ग करना चाहिये। ऐसे साधकोंका अथवा यदि भगवत्कृपासे प्राप्त हो जायँ तो सिद्ध महापुरुषोंका श्रद्धापूर्वक सङ्ग करना, और उनके परमार्थपूर्ण वचनोंको प्रेम एवं आदरके साथ सुनना, फिर तदनुसार अपना जीवन बनानेकी चेष्टा करना सत्सङ्गका एक श्रेष्ठ स्वरूप है।

सच्चे सत्पुरुषों और महात्माओंकी पहचान होना बहुत कठिन है। क्योंकि हम अपनी जिस विषयासक्त, कामनाग्रस्त, अज्ञानविमोहित और अनिश्चयात्मिका बुद्धिकी कसौटीपर कसकर सत्पुरुषोंको या महात्माओंको पहचानना चाहते हैं, उस कसौटीपर कसी जानेवाली वस्तु उन महापुरुषोंमें रहती ही नहीं। उन महात्मा पुरुषोंमें कोई दोष नहीं रहनेपर भी हम अपनी अश्रद्धा और तमसावृता बुद्धिसे उनकी चेष्टाके रहस्यको न समझकर उनमें

दोषारोपण कर सकते हैं। वस्तुतः बाहरी चिह्नसे महात्मा पहचाने ही नहीं जा सकते; क्योंकि एक ढोंगी आदमी भी जीवनभर महात्मा-सा बना रह सकता है, और यथार्थ महात्मा पुरुष भी अपनी बाहरी क्रियाओंसे साधारण स्थितिके मनुष्य समझे जाकर जीवनभर छिपे रह सकते हैं। वास्तवमें तो महात्माओंकी पहचान तभी हो सकती है जब वे स्वयं कृपा करके अपनी पहचान करा देते हैं। परंतु हमारी अश्रद्धा इसमें प्रधान बाधक होती है। हम महात्माओंकी कृपा प्राप्त करनेका मन नहीं रखते; हम तो अश्रद्धाको साथ लिये उन्हें अपनी तुच्छ कसौटीपर कसते फिरते हैं, और जहाँ कहीं हमारी कसौटीसे उनमें जरा भी कसर मालूम पड़ी वहीं उनके महात्मा न होनेका फतवा दे बैठते हैं। बहुत-से महात्मा तो ऐसे छिपे रहते हैं कि उनका महात्मापन किसीपर विदित ही नहीं होता! ऐसे लोगोंके पास तो प्रायः कोई जाता ही नहीं। परंतु इतना होनेपर भी यह तो कहना ही पड़ता है कि आजकलके दम्भपूर्ण जगत्में बहुत सोच-समझकर ही किसीको महात्मा, संत या महापुरुष मानकर आत्म-समर्पण करना चाहिये। जिनके मन, वचन और तनमें सात्त्विकताका बोध हो और जिनके सङ्गसे दैवी सम्पदा और भगवत्परायणताकी वृद्धि हो, उनका सङ्ग करना उत्तम है। परंतु ऊपरसे उत्तम दीखनेपर भी जिनके सङ्गसे आसुरी सम्पदा तथा भगवद्विमुखताकी वृद्धि होती हो उनके सङ्गसे बचना चाहिये।

शास्त्रोंमें अनेक स्थलोंपर सत्पुरुषोंके और महात्माओंके लक्षण बतलाये गये हैं, उनमेंसे कुछ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् ।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ॥
मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम् ।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः ॥
मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च ।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतसः ॥
त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः ।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते ॥

(श्रीमद्भा० ३ । २५ । २१—२४)

भगवान् कपिलरूपसे अपनी माता देवहूतिको कहते हैं—'जो किसी भी प्रतिकूलता और अनुकूलतामें विषाद तथा हर्षको प्राप्त नहीं होकर स्वाभाविक ही सहनशील हैं, दयालु हैं, प्राणिमात्रके प्रति अकारण ही प्रेम रखनेवाले सुहृद् हैं, जिनके मन कोई शत्रु है ही नहीं, जो शान्तचित्त है, साधुचरित्र हैं, साधुता ही जिनका भूषण है, जो मुझको (भगवान्को) तत्त्वसे जानकर अनन्य भावसे मेरी दृढ़ भक्ति करते हैं, मेरे लिये जो समस्त कर्मोंका एवं स्वजन-बान्धवोंका त्याग कर चुके हैं, जो मुझपर निर्भर हैं, मेरी ही पवित्र तथा मधुर कथाको कहते-सुनते हैं, ऐसे मद्गतचित्त साधुओंको संसारके विविध ताप नहीं तपा सकते । साध्वी ! सब सङ्गोंसे रहित ऐसे सत्पुरुष ही विषयासक्तिसे उत्पन्न हुए दोषोंका नाश करते हैं । अतः उन्हीका सङ्ग करना चाहिये ।'

इसी प्रकार स्वयं भगवान् भी भक्तवर उद्धवसे कहते हैं—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥

कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः ।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः ।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ११ । २९-३१)

'जो समस्त प्राणियोंके प्रति कृपालु है, किसीके साथ भी द्रोह नहीं करता, तितिक्षावान्, सत्यशील, पवित्र अन्तःकरण, समदर्शी और सबका उपकार करनेवाला है, जिसकी बुद्धि कामनासे रहित है, इन्द्रियाँ वशमें हैं, जो मृदु स्वभाव, सदाचारी, अकिञ्चन, निःस्पृह, मिताहारी, शान्तचित्त, स्थिरमति और मेरे शरण है तथा मेरे स्वरूप-गुणोंका ही चिन्तन करता है, जो प्रमादरहित, गम्भीर अन्तःकरणवाला, धैर्यवान् और भूख-प्यास, शोक-मोह तथा जन्म-मृत्यु—इन छः प्राण, मन और शरीरके गुणोंको जीत चुका है; अर्थात् इनसे जो मोहित नहीं है, जो स्वयं मानका त्यागी होकर दूसरोंको मान देता है, समर्थ है, सबका मित्र है, दयालु है और तत्त्वका ज्ञाता है, वह साधु है ।'

महाभारत-शान्तिपर्वमें भीष्मपितामहने सत्पुरुषोंका लक्षण बतलाते हुए धर्मराजसे कहा है—

'अब मैं उन महापुरुषोंके लक्षण बतलाता हूँ जिनका सङ्ग करनेसे पुनर्जन्मका भय नहीं रहता, अर्थात् जीव मुक्तिको प्राप्त हो जाता है—वे पुरुष मांसाहार नहीं करते, प्रिय-अप्रियको समान मानते हैं, शिष्ट पुरुषोंका आचार उन्हें प्रिय है । इन्द्रियाँ सदाके लिये उनके वशमें हैं, सुख-दुःखमें वे समबुद्धि हैं ।

सत्यपरायण, दानशील, किसीका परिग्रह न लेनेवाले और दयालु हैं, वे पितर, देवता तथा अतिथियोंका सत्कार करते हैं, सबका मङ्गल करनेकी चेष्टा करते हैं, परोपकारी, वीर और धर्मका पालन करनेवाले हैं। प्राणिमात्रका हित करनेवाले, अवसर आनेपर सर्वस्व दे डालनेवाले और सत्यके मार्गपर अडिग रहनेवाले हैं। उनका व्यवहार धर्ममय होता है, वे प्राचीन सत्पुरुषोंके किये हुए आचरणका खण्डन नहीं करते, किसीको त्रास नहीं देते, चञ्चल-बुद्धि नहीं होते, भयानक नहीं होते और सदा सन्मार्गपर स्थित रहते हैं। उनमें अहिंसाकी प्रतिष्ठा होती है, वे काम, क्रोध, ममता और अहंकारसे रहित होते हैं; मर्यादामें स्थिर रहते हैं, धन या कीर्तिके लिये धर्मका पालन नहीं करते, बल्कि स्नान-भोजनादि शारीरिक क्रियाओंके समान धर्मपालन उनका स्वाभाविक कार्य होता है। उनमें भय, क्रोध, चपलता और शोक नहीं होता, वे धर्मपालनका ढोंग नहीं करते, वे सत्यवादी और सरल होते हैं, लाभमें उन्हें हर्ष नहीं होता और हानिमें व्यथा नहीं होती। वे सदा सत्त्वमें स्थित, समदर्शी और लाभ-हानि, सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय तथा जीवन-मृत्युमें सम रहते हैं। वे दृढ़पराक्रमी, परम श्रेयको प्राप्त और सत्यमार्गपर स्थित होते हैं।'

गीतामें भी अध्याय १२ श्लोक १३ से २० तक भक्तोंके नामसे, अध्याय १४ श्लोक २२ से २५ तक गुणातीतके नामसे एवं श्रीमद्भागवतमें स्कन्ध ११ अध्याय २ श्लोक ४५ से ५५ तक 'भागवत' के नामसे इन्हीं महापुरुषोंका वर्णन है। कहाँतक कहा जाय, महापुरुषोंके लक्षणोंसे और उनकी महिमासे हमारे शास्त्र भरे पड़े हैं। महात्माओंके सङ्गकी महिमामें श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा ।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥
(५ । १२ । १२)

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम् ।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा ॥
निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम् ।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम् ॥
अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्तानां शरणं त्वहम् ।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम् ॥
(११ । २६ । ३१–३३)

प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः ।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ॥
(३ । २५ । २०)

महात्मा जडभरत राजा रहूगणसे कहते हैं—'रहूगण ! यह भगवत्तत्त्वका ज्ञान या भगवत्प्रेम तप, यज्ञ, दान, गृहस्थाश्रमद्वारा किये जानेवाले परोपकार, वेदाध्ययन और जल, अग्नि एवं सूर्यकी उपासनासे नहीं मिलता । यह तो केवल महापुरुषोंकी चरणधूलिमें स्नान करनेसे ही मिलता है ।'

भगवान् कहते हैं—'उद्धवजी ! जिस प्रकार भगवान् अग्निदेवका आश्रय लेनेपर शीत, भय और अन्धकार तीनोंका नाश हो जाता है, उसी प्रकार संत पुरुषोंके सेवनसे पापरूपी शीत, जन्म-मृत्युरूपी भय (ताप) और अज्ञानरूपी अन्धकार—ये कोई भी नहीं रहते । जलमें डूबते हुए लोगोंके लिये नौकाके समान इस भयानक संसार-सागरमें गोते खानेवालोंके लिये ब्रह्मवेत्ता

शान्तचित्त संत पुरुष ही परम अवलम्बन हैं। जैसे अन्न ही प्राणियोंका जीवन है, मैं ही आर्त पुरुषोंका आश्रय हूँ तथा धर्म ही परलोकमें जीवका धन होता है, वैसे ही संसारभयसे व्याकुल पुरुषोंके लिये संतजन ही परम आश्रय हैं।'

भगवान् कपिल कहते हैं—'तत्त्वज्ञ पुरुष ही इस बातको भलीभाँति जानते हैं कि सङ्ग आत्माके लिये कभी जीर्ण न होनेवाला प्रबल बन्धन है; परंतु वही सङ्ग यदि साधु पुरुषोंका हो तो वह मोक्षका खुला दरवाजा है।'

उत्तम सत्सङ्गके भी दो स्वरूप हैं—एक वह जो अन्तःकरणकी शुद्धिमें कारण बनकर मोक्षकी प्राप्तिमें साधनरूप होता है और दूसरा वह जिसके क्षणकालकी भी मोक्षके साथ तुलना करना असंगत माना गया है। इनमें पहलेकी अपेक्षा दूसरेकी विशेष महिमा है। श्रीमद्भागवतमें सूतजीके ये वचन हैं—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥
(१।१८।१३)

'भगवत्सङ्गी प्रेमियोंके निमेषमात्रके सङ्गकी तुलना, स्वर्गादिकी तो बात ही क्या है, पुनर्जन्मका नाश करनेवाले मोक्षके साथ भी नहीं की जा सकती; फिर मर्त्यलोकके राज्यादिकी तो बात ही कौन-सी है?' ऐसे मोक्षसंन्यासी भगवत्प्रेमी महापुरुष भगवान्‌की अपार कृपासे ही मिलते हैं!

परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि इस युगमें ऐसे महापुरुषोंका अभाव हो गया है। अवश्य ही सच्चे हीरे जैसे

जहाँ-तहाँ नहीं मिलते, इसी प्रकार ऐसे महापुरुष भी सहजमें नहीं मिलते। संतों और भगवत्प्रेमियोंकी जमात नहीं होती, तथापि श्रद्धा और उत्कण्ठाका बल होनेपर भगवान्‌की कृपासे ऐसे महात्माओंके दर्शन भी हो सकते हैं। ऐसे महात्माओंका दर्शन, स्पर्श, श्रवण, एक साथ निवास और स्मरण भी अमोघ होता है। न पहचाननेपर भी केवल दर्शनके फलस्वरूप ही मनुष्यके सारे पाप-तापोंका और अज्ञानका नाश होकर उसका कल्याण हो सकता है।

परंतु दर्शनके अमोघ फलकी बात सत्य होनेपर भी साधकोंके लिये महात्माओंको पहचानकर उनकी सेवा करना और उनके आज्ञानुसार चलना ही उचित है। ऐसा करनेपर मोक्षसंन्यासी या बहुत ऊँची तत्त्वज्ञानकी स्थितिपर पहुँचे हुए महात्माकी जगह उच्च कोटिके साधक महात्माकी सेवा करनेसे भी लाभ हो सकता है। सेवाका अर्थ उनके समीप रहना या उनके शरीरकी सेवा करना ही नहीं है। समीप रहनेसे भी लाभ है,* परंतु इससे भी अधिक महत्त्वकी सेवा उनकी रुचिके अनुसार अपना जीवन निर्माण करना है। जो मनुष्य महात्माओं-के पास तो रहता है, परंतु उनकी रुचिके अनुसार अपना जीवन निर्माण करनेमें अरुचि रखता है, वह उस महात्माकी यथार्थ सेवा

---

* कुछ भी न करके उनके पास रहनेसे भी लाभ होता है--

निरारम्भा ह्यपि वयं पुण्यशीलेषु साधुषु।
पुण्यमेवाप्नुयामेह पापं पापोपसेवनात्॥

(महा० वन० १। २७)

'स्वयं कुछ भी कार्य न करनेपर भी हमलोग पुण्यशील साधुओंके पास रहनेसे पुण्य और पापियोंके पास रहनेसे पाप ही प्राप्त कर सकते हैं।'

नहीं करता। महात्माकी अनुमति हो तो उनके पास रहकर उनकी रुचिके अनुसार चलनेका अभ्यास करनेसे बहुत लाभ होता है। जन्म-जन्मान्तरके संगृहीत कुसंस्कारोंके कारण शीघ्र ही प्रत्यक्ष लाभ न दीखे तो यह नहीं मानना चाहिये कि लाभ नहीं होता। पहले मनके कुसंस्कार दबते हैं—सर्वथा नाश नहीं होते (इसीसे बीच-बीचमें उनके प्रकट होनेपर लाभ न होना दीखता है), परंतु यदि उनका दबाना जारी रहता है तो वे जल्दी ही पिसकर मर जाते हैं। फिर उनका लेश नहीं रहता। परंतु जबतक ऐसा न हो तबतक धैर्यपूर्वक सत्सङ्गका यथार्थ सेवन करते रहना चाहिये। महात्मा पुरुषोंके सेवनसे निश्चय ही पापोंका नाश होकर संसार-सागरसे उद्धार हो जायगा, इस बातपर मनमें दृढ़ विश्वास रखना चाहिये।

यह याद रखना चाहिये कि महात्मा पुरुष दुर्भावों और दुर्गुणोंसे सर्वथा रहित होते हैं। प्रारब्धवश शरीर और अन्त:करण-की स्थिति जहाँतक रहती है, वहाँतक शरीर और अन्त:करणकी स्थिति किस आधारपर है इस बातको बतलानेके हेतुसे केवल अज्ञानियोंको समझानेभरके लिये उनमें लेशाविद्याकी कल्पना की जाती है। वस्तुत: उनमें अविद्याका लेश रहता नहीं। जब अविद्या नहीं, तब उसके कार्य दुर्भाव और दुर्गुणोंका तो उनके अन्त:करणमें रहना सर्वथा असम्भव ही है। ये दुर्भाव और दुर्गुण अन्त:करणके विकार हैं—दोष हैं, धर्म नहीं हैं। इनका नाश तो साधनकी उच्च स्थितिपर पहुँचनेसे पहले ही अधिकांशमें हो जाता है। तभी अन्त:करणकी शुद्धि होती है और शुद्धान्त:करणमें ही ज्ञानका प्रकाश होता है। अतएव महात्मा पुरुषोंमें दोषोंकी कल्पना करना ही भूल है। ऐसे ही

महात्मा पुरुषोंको खोजकर उनकी शरण हो जाना चाहिये। सच्ची लगन होगी तो थोड़ी ही खोजमें भगवत्कृपासे ऐसे संतजन प्राप्त हो सकते हैं और उनके सत्सङ्गद्वारा हमारा इस भवसागरसे उद्धार ही नहीं, बल्कि हमें दुर्लभ भगवत्प्रेमकी भी प्राप्ति हो सकती है। महासंत देवर्षि नारदजीके इन शब्दोंको याद रखिये—

तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम्।

(नारदभक्तिसूत्र ४२)

अतएव उस महत्सङ्ग (सत्सङ्ग) की ही साधना करो, उसीकी साधना करो।

(२)

सदाचार

इस पञ्च-सकारमें दूसरा सकार है, 'सदाचार'। साधु पुरुष जिस आचारका पालन करते हैं, सत्पुरुष जिसे सदाचार बतलाते हैं, या जो साधुहृदय पुरुषोंके द्वारा पालन करने योग्य है अथवा जिसके पालन करनेसे मनुष्य सदाचारी साधुहृदय बन सकता है, उसे सदाचार कहते हैं। हमारी सभ्यतामें सदाचार और धर्म अभिन्न हैं। पाश्चात्य रिलीजन (Religion) और एथिक्स (Ethics) अलग-अलग हैं, परंतु हम तो सदाचारको धर्मका मूल मानते हैं और धर्मको सदाचार। तथा इस धर्म एवं सदाचारकी मूल भित्ति हैं भगवान्। भगवान् तथा भगवान्के अकाट्य नियम कर्मफल, पुनर्जन्म, आत्माकी नित्यता

आदिको माने बिना कोरे सत्य-अहिंसाका कोई मूल्य नहीं और बिना नींवकी इमारतके समान वे जीवित भी नहीं रह सकते। धर्मका आश्रय भगवान् हैं। जहाँ धर्म है, वहाँ भगवान् हैं ही। 'यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः' और जहाँ भगवान् हैं, वहीं विजय है—मानव-जन्मकी सफलता है। यह धर्म रहता है सदाचारके रूपसे मानवजीवनमें ओतप्रोत होकर। व्यक्तिगत जीवन (Private Life) और सामाजिक जीवन (Public Life) दो नहीं होते। सदाचार ऐसी वस्तु है, जो दोनोंको एक करके पवित्रतम बनाये रखता है। मनुस्मृति, महाभारत, विष्णुपुराण, नारदीयपुराण, वामनपुराण आदिमें सदाचारके छोटे-बड़े नियमोंका विशद निरूपण है। सदाचारमें लगे हुए मनुष्यका शरीर स्वस्थ, मन शान्त और बुद्धि निर्मल होती है और उसका अन्तःकरण शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है। शुद्ध अन्तःकरण ही वस्तुतः भगवान्‌के चिन्तन और ध्यानके योग्य होता है। उसीमें भगवान्‌का स्थिर आसन लगता है, इसलिये मनुष्यको सदाचार जानना चाहिये और उसका पालन करना चाहिये। मनु महाराज कहते हैं—

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ्‌निबद्धं स्वेषु कर्मसु।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः॥
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥

(मनु० ४। १५५—१५८)

'श्रुति और स्मृतिमें कथित, अपने नित्यकर्मोंके अङ्गभूत धर्मके मूल इस सदाचारका सावधानीके साथ सेवन करना चाहिये। सदाचारसे मनुष्य आयु, इच्छानुरूप प्रजा और अक्षय धनको प्राप्त करता है। इतना ही नहीं, सदाचारसे अल्पमृत्यु आदिका भी नाश होता है। जो पुरुष दुराचारी है, उसकी लोकमें निन्दा होती है, वह सदा दुःख भोगता रहता है तथा रोगी और अल्पायु (कम उम्रवाला) होता है। विद्यादि सब लक्षणोंसे हीन पुरुष भी यदि सदाचारी होता है और श्रद्धावान् तथा ईर्ष्यारहित होता है तो वह भी सौ वर्ष तक जीता है।'

उपर्युक्त स्मृति, इतिहास और पुराण आदि ग्रन्थों और वैद्यक सिद्धान्तोंके आधारपर तथा वर्तमान आवश्यकताओंको ध्यानमें रखकर यहाँ कुछ विचार किया जाता है। इसमें कुछ अच्छापन हो तो उसे ग्रहण करना और लाभ उठाना चाहिये।

शय्यात्याग

सूर्योदय होनेसे लगभग ३ से १॥ घंटे पूर्व बिछौनेसे उठ जाना चाहिये। इस समय उठनेवालेका स्वास्थ्य, धन, विद्या, बल और तेज बढ़ता है। जो सूर्य उगनेके समय सोता है, उसकी उम्र और ताकत घटती है और वह नाना प्रकारकी बीमारियोंका शिकार होता है।

उठते ही सबसे पहले भगवान्का स्मरण और ध्यान करे और कम-से-कम दस मिनट भगवान्की प्रार्थना करे। दिनभर सुबुद्धि बनी रहे, शरीर तथा मनसे शुद्ध सात्त्विक कार्य हों,

भगवान्का चिन्तन कभी न छूटे, इसके लिये भगवान्से बल माँगे, और आत्मासे यह निश्चय करे कि 'आज दिनभर मैं कोई भी बुरा कर्म कदापि नहीं करूँगा। भगवान्को याद रखते हुए भले कार्य ही करूँगा।'

मल-मूत्रका त्याग

बिछौनेसे उठकर पहले घरसे दूर बाहर जाकर मूत्र-त्याग करे, फिर हाथ-मुँह धोवे, कुल्ला करे।

प्रातःकाल लगभग आधा सेर बासी जल नित्य-नियमपूर्वक धीरे-धीरे पी जाय। यह 'उषापान' कहलाता है, इससे कफ, वायु, पित्त त्रिदोषका नाश होता है, दस्त साफ होता है, पेटके विकार दूर होते हैं। बवासीर, प्रमेह, मस्तकवेदना, शोथ और पागलपन आदि रोग मिटते हैं। बल, बुद्धि और ओज बढ़ता है।

सुभीता हो तो गाँवके बाहर नैऋत्यकोणमें दूर जाकर मलत्याग करे। पेड़की छायाके ऊपर, गौ, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, गुरुजन और अन्यान्य स्त्री-पुरुषोंके सामने मल-मूत्रका त्याग न करे। जुते हुए खेतमें, पके खेतमें, गौओंकी गोष्ठमें, रास्तेमें, नदी आदिमें, जलाशयमें तथा नदी और तालाबके किनारे और श्मशानमें कभी मल-मूत्रका त्याग न करे। हो सके तो दिनमें उत्तर-मुख और रातको दक्षिण-मुख होकर मल-मूत्रका त्याग करे। मल-मूत्र त्याग करते समय सिरको कपड़ेसे ढँक ले और द्विज हो तो जनेऊ कानपर चढ़ा ले।

शहरोंमें रहनेवाले लोग पाखानों और पेशाबखानोंको साफ रक्खें। चारों ओरकी पक्की या चटाईकी दीवालपर कम-से-कम दो फुटतक अलकतरा (डामर) पोत दें। रोज काफी पानीसे सफाई

की जाय जिसमें दुर्गन्ध न रहे और वहाँ मक्खियों और मच्छरोंका देश न बस जाय ।

दिन-रातमें जब-जब मल-मूत्रका त्याग करे, तब-तब जबतक मल-मूत्रका त्याग होता रहे, ऊपर-नीचे दाँतोंको जोरसे दबाकर सटा रखना चाहिये । इससे दाँत बहुत मजबूत होते हैं और बहुत दिनोंतक चलते हैं । दाँतोंकी कोई बीमारी सहजमें नहीं हो पाती ।

मलका त्याग करके ऊपर मिट्टी डाल देना चाहिये जिससे मक्खियाँ उसपर न बैठने पावें । जमीनमें गढ़ा खोदकर उसमें शौच जाना और उसको मिट्टीसे भर देना बहुत ही उत्तम है ।

मल-मूत्र त्याग करते समय मौन रहे । मल-त्याग करते समय ज्यादा जोर न दे । जोर देनेसे धातु निकल जाती है, जिससे कब्जी और भी ज्यादा बढ़ती है तथा बायीं पसलीके नीचे एक प्रकारका दर्द हो जाता है, जो स्थायी होनेपर बहुत दुःखदायी होता है । इससे मन्दाग्नि होती है ।

ज्यादा कब्ज रहती हो तो साग अधिक खाय, हर्रेकी फाँकी रातको ले ले । पञ्च-सकार चूर्ण भी अच्छा है । परंतु ज्यादा जुलाब न ले । जुलाबकी आदत पड़ जानेपर स्वाभाविक पाखाना होना बंद हो जाता है । मल-त्याग करते समय चोटी खुली रहनी चाहिये । कब्ज दूर करनेके लिये वस्तीकर्म (एनिमा लेना) लाभदायक है ।

सबेरे एक बार शौच जरूर जावे । शामको भी हो आना अच्छा है । मल-त्याग करनेमें जल्दी नहीं करनी चाहिये ।

गरम बालूमें, आगमें, राखपर, गरम पत्थरपर, मूत्र-सम्बन्धी रोगीके द्वारा पेशाब की हुई जगहपर मूत्र-त्याग न करे। खड़े होकर पेशाब न करे। पेशाब करते समय खयाल रक्खो, कहीं बदनपर छींटे न लगने पावें। पेशाब करके पानीसे लिङ्गको जरूर धोना चाहिये।

मिट्टीसे गुदा-लिङ्ग आदि जरूर धोवे। जो मल-त्याग करनेपर गुदाको नियमपूर्वक मिट्टीसे धोते हैं, उनको बवासीरकी बीमारी प्रायः नहीं होती। जबतक गन्ध रहे तबतक धोते ही रहना चाहिये। शौचके लिये पानी काफी ले जाना चाहिये। थोड़े-से पानीसे गुदा ठीक नहीं धुलती। लिङ्गको एक बार और गुदाको कम-से-कम तीन बार मिट्टी लगाकर धोवे। शौचके लिये जिस लोटेमें पानी ले जाय, पहले हाथ माँजकर उसको कम-से-कम तीन बार माँजना चाहिये। हरेकका लोटा बिना माँजे इस्तेमाल नहीं करना चाहिये।

हाथ धोनेके लिये बाँबीकी, चूहोंके बिलसे निकाली हुई, जलके भीतरकी, शौचकार्यसे बची हुई, घरके लीपनकी, चींटी आदि छोटे-छोटे जीवोंकी निकाली हुई या हलसे उखाड़ी हुई मिट्टी न ले। जहाँकी मिट्टीको लोग गंदा कर देते हैं वह मिट्टी भी न ले। साफ मिट्टी ले। जमीन खोदकर मिट्टी निकाली जाय तो वह बहुत अच्छी है। मिट्टीको घरमें जमा रक्खे तो किसी मिट्टीके या टीनके बरतनमें रखना चाहिये। उसे भी ढककर रक्खे जिससे बिल्ली आदि उसे गंदा न कर सकें।

बायें हाथको दस बार और दाहिने हाथको सात बार मिट्टी लगाकर अच्छी तरह धोये।

दाँत धोना

दाँतोंको पीपल, गूलर, मौलसिरी, चम्पा, आम, नीम, खैर

आदिके दँतुअनसे धीरे-धीरे घिसकर साफ करे। ताड़, खजूर, सुपारी, नारियल तथा काँटेदार पेड़ोंके दँतुअन न करे। दँतुअन बिना गाँठका तथा बारह अंगुल लंबा हो। ज्यादा मोटा नहीं होना चाहिये। कत्था, माजूफल, मौलसिरीकी छाल, अकलतरा, फिटकिरी, सेंधा, साँभर और काला नमक, हर्रे, बहेड़ा आँवला, सोंठ, पीपल और मिर्च—इन सबको बराबर भाग लेकर मंजन बना ले। यह मंजन दाँतोंके लिये बहुत लाभदायक है। कड़वे (सरसोंके शुद्ध) तेलमें थोड़ा-सा मैदेकी तरह खूब महीन पीसा हुआ सेंधा नमक मिलाकर दाँतों और मसूढ़ोंपर धीरे-धीरे मलकर धोनेसे दाँत बहुत मजबूत और नीरोग होते हैं।

कान, मुँह, दाँत, दमा और हृदयकी बीमारीमें दँतुअन करना ठीक नहीं है। प्रतिपदा, षष्ठी, नवमी, एकादशी, अमावस्या और रविवारको दँतुअन नहीं करना चाहिये। ऐसे रोगियोंको और उपर्युक्त दिनोंमें सभीको दँतुअन न करके मंजन करना चाहिये।

दँतुअन घूमते-फिरते न करे। पूर्वमुख बैठकर शान्तिपूर्वक दँतुअन करे। दँतुअनसे दाँत साफ कर चुकनेपर उसको चीरकर दो टुकड़े करके जीभ साफ कर ले। फिर दोनों टुकड़ोंको धोकर कूड़ेकी जगह फेंक दे। चाहे जहाँ न फेंके।

पेशाब करनेपर तीन और मल-त्याग करनेपर ग्यारह कुल्ले अवश्य करने चाहिये, कुल्ला जहाँतक हो ठंडे, ताजे जलसे करना उत्तम है। बहुत गरम तथा अति ठंडे जलसे कुल्ला करनेसे दाँतोंकी जड़ ढीली हो जाती है। कुल्ला बायीं ओरको करना चाहिये। दायें और सामने करनेसे बीमारी बढ़ती है तथा अन्तरिक्षमें

दायें और सम्मुख स्थित रहनेवाले पितर, देवता और ऋषियोंकी अप्रसन्नता प्राप्त होती है। कुल्ला इस प्रकार करे जिससे दाँतोंके आगे-पीछेके सब हिस्से, जीभ, मसूढ़े आदि सब साफ हो जायँ। नदी और तालाबके अंदर कुल्ला नहीं करना चाहिये।

वायुसेवन

सुबह और शामको नित्य खुली, ताजी और शुद्ध हवामें अपनी शक्तिके अनुसार थकान न मालूम होनेतक साधारण चालसे रीढ़की हड्डीको सीधे रखकर घूमना चाहिये। नियमपूर्वक घूमनेके व्यायामसे और शुद्ध वायुसेवनसे शरीरको बहुत लाभ पहुँचता है। बहुत ठंढी हवामें, बरसातमें, अंधड़में तथा गंदी जगहोंमें न घूमे।

तेल लगाना

रोज सारे बदनमें तेल लगानेसे बड़ा लाभ होता है। गलेसे नीचेतक सरसोंका तथा मस्तकपर तिल आदिका तेल लगावे। सिरका ठंढा रहना और पैरका गरम रहना अच्छा है, इसलिये सिरमें कभी सरसोंका तेल न लगावे। अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा अमावस्या, सूर्यकी संक्रान्ति और रविवारके दिन तेल न लगावे। कड़वा तेल पैरोंके तलवेमें लगाना और सरदी होनेपर या कफवायुके प्रकोप-में उसका नस्य लेना उत्तम है।

स्नान करना

प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व स्नान करे। स्वच्छ जलके बहते हुए नद या नदीमें अथवा निर्मल तालाबमें, नहीं तो कुएँसे जल

खींचकर उसके पासकी जमीनपर नहावे । ऐसा सुभीता न हो तो नलसे अथवा कुएँसे मँगाये ताजे जलसे नहावे ।

शरीरको अँगोछे और हाथसे खूब मल-मलकर नहाना चाहिये । नहाते समय ऐसा निश्चय करे कि मेरे शरीरके मैलके साथ ही मनका मैल भी धुल रहा है । नहाते समय भगवान्‌का नामोच्चारण अवश्य करते रहना चाहिये । नहानेके लिये बारहों महीने ताजा ठंढा जल ही उत्तम है, बासी जलसे और बहुत गरम जलसे नहाना उचित नहीं । ज्वर, अतिसार आदि रोगोंमें न नहावे । उन्माद, मृगी आदिमें जरूर नहावे । पसीनेमें, मैथुन करके, दौड़कर तथा भोजन करके तुरंत नहीं नहावे । नहाते समय पहले मस्तकपर जल डालना चाहिये । गरम जलसे खुली जगहमें न नहावे ।

जिस बालटी या डोलके जलमें दूसरा आदमी नहा चुका हो, उसको माँजे और धोये बिना उसीमें नहानेके लिये जल न लेवे । इसी तरह लोटा भी माँज-धो लेना चाहिये ।

घरमें कुआँ हो तो उसे समय-समयपर साफ कराता रहे— जिससे उसमें गंदगी न पैदा हो । चूना या लाल दवाई (पोटास) छोड़ना भी अच्छा है । कुएँके आसपास गंदगी न जमा होने दे ।

स्नान करके खद्दरके मोटे अँगोछेसे तमाम शरीरको भलीभाँति पोंछ डाले, नीचेके अङ्गोंको पोंछनेके लिये अलग अँगोछा रक्खे । कोई भी अङ्ग जलसे भीगा नहीं रहना चाहिये । बहुधा लोग नीचेके अङ्गोंको ठीक नहीं पोंछते, इससे दाद, खुजली

वगैरह रोग हो जाते हैं। दूसरेका इस्तेमाल किया हुआ अँगोछा—तौलिया कभी काममें न लावे।

स्नान करनेके बाद जलसे भीगी हुई धोती अथवा हाथोंसे शरीरको न पोंछे। खड़े-खड़े केशोंको न झाड़े और आचमन भी न करे।

स्नान करके अङ्ग पोंछनेके बाद धोया हुआ शुद्ध सफेद कपड़ा पहने। पूजाके समय ऊनी अथवा जिसमें हिंसा न होती हो ऐसा रेशमी वस्त्र पहनना उत्तम है। दूसरेका पहना हुआ कपड़ा कभी न पहने।

नहानेके बाद सिरके केशोंको कंघीसे ठीक कर ले, जिसमें कोई छोटा जीव-जन्तु या कूड़ेका कोई कण सिरपर न रहने पावे। दूसरेकी कंघीसे कभी अपने बाल साफ न करे।

घरमें माता, पिता, गुरु, बड़े भाई आदि जो अपनेसे बड़े हों, उनको नित्य-नियमपूर्वक प्रणाम करे। नित्य बड़ोंको प्रणाम करनेसे आयु, विद्या, यश और बलकी वृद्धि होती है।

मस्तकपर चन्दन, गोपीचन्दन या कुंकुमसे अपने-अपने सम्प्रदायके अनुसार तिलक करे।

संध्या-पूजन

द्विजको हो सके तो तीनों काल—नहीं तो—दो कालकी संध्या अवश्य करनी चाहिये। जो द्विज प्रतिदिन प्रमादवश संध्या नहीं करता, वह महान् पापी माना जाता है और उसको भयानक नरकयातना भोगनी पड़ती है। जहाँतक हो, संध्या प्रातःकाल सूर्योदयसे पहले और सायंकाल तारोंके दिखायी देनेसे पूर्व करनी

चाहिये । संध्याके बाद प्रत्येक द्विज दोनों समय कम-से-कम एक-एक माला गायत्री-मन्त्रका जप अवश्य करे ।

देवता, ऋषि और पितरोंकी तृप्तिके लिये प्रतिदिन तर्पण करे। देवता और ऋषियोंके तर्पणके लिये एक बार, सनकादिके लिये दो-दो बार और यम तथा पितरोंके लिये तीन-तीन बार जल छोड़े। अपने पिता-पितामहों और नाना-परनानाओंको तथा माता-दादी एवं नानी-परनानी आदिको पितृ-तीर्थसे जलदान करे। अर्थात् दाहिने हाथके अँगूठेके नीचेसे दक्षिण दिशामें जलदान करे, फिर देवता, असुर, यक्ष, नाग, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, कूष्माण्ड, पशु-पक्षी, जलचर, थलचर, वायुभक्षक जीव, नरकोंकी यातना भोगते हुए प्राणी, बन्धु-अबन्धु, पूर्वजन्मोंके बन्धु और भूख-प्याससे व्याकुल जीवमात्रको जलदान दे ।

नित्य अपने इष्टदेवकी पूजा तथा स्तोत्र-प्रार्थना आदि करे। जिनको संध्या-गायत्रीमें अधिकार नहीं, ऐसे लोग नित्य नियमपूर्वक अपने-अपने इष्टदेवकी पूजा-प्रार्थना अवश्य कर लें । प्रार्थनाके समय आँखें बंद रक्खें और चित्तको यथासाध्य एकाग्र किये रहें ।

भोजन

रसोई बन चुकनेपर पहले बलिवैश्वदेव आदि करके घरपर आये हुए अतिथिका सत्कार करे और फिर अपने घरमें आयी हुई विवाहिता कन्या, गर्भिणी स्त्री, दुखिया, वृद्ध और बालकोंको भोजन कराकर अन्तमें स्वयं भोजन करे । विष्णुपुराणमें लिखा है कि 'इन सबको भोजन कराये बिना जो स्वयं भोजन कर लेता है, वह पापमय भोजन करता है और अन्तमें

मरकर नरकमें श्लेष्मभोजी कीट होता है । जो व्यक्ति स्नान किये बिना भोजन करता है, वह मल भक्षण करता है; जप किये बिना भोजन करनेवाला रक्त और पीब पान करता है, संस्कारहीन अन्न खानेवाला मूत्रपान करता है तथा जो बालक-वृद्ध आदिसे पहले आहार कर लेता है, वह विष्ठाहारी होता है ।

पैरोंको धोकर और भलीभाँति कुल्ला करके, हाथ-मुँह धोकर भोजन करे । भोजन करनेसे पहले भगवान्को निवेदन करके प्रसादरूपमें भोजन करे । दिनमें जितनी बार अन्न-जल ग्रहण करे, पहले भगवान्को निवेदन करके ही करे । भोजनके समय प्रसन्न रहे, बोले नहीं और खूब चबा-चबाकर प्रेमसे अन्नको खाय । जो अन्नको चबाकर नहीं खाता, उसके दाँत कमजोर हो जाते हैं तथा दाँतोंके बदले उसकी अँतड़ियोंको काम करना पड़ता है जिससे अग्नि मन्द हो जाती है । भोजनका समय प्रातःकाल लगभग ११ बजे और संध्याको सूर्यास्तसे पूर्व या सूर्यास्तके एक घंटे बाद होना चाहिये । यों तो भोजनका ठीक समय वही है, जब खूब खुलकर भूख लगी हो । भोजनका समय नियमित होनेसे ठीक समयपर भूख अपने आप लगेगी ।

अप्रसन्न मनसे, बिना रुचिके भूखसे अधिक और अधिक मसालोंवाला चटपटा भोजन शरीरके लिये बड़ा हानिकारक होता है । भोजन न तो इतना कम होना चाहिये, जिससे शरीरकी शक्ति घट जाय और न इतना अधिक होना चाहिये, जिसे पेट पचा ही न सके ।

बहुत प्यास लगी हो, पेटमें दर्द हो, शौचकी हाजत हो अथवा बीमार हो तो ऐसे समय भोजन न करे ।

भोजनमें सभी रसोंकी आवश्यकता है, परंतु मीठा जहाँतक हो कम खाना चाहिये ।

अपवित्र स्थानमें, कुर्सी आदिपर बैठकर, संध्याके समय, गंदी जगह, बेत आदिपर रक्खे हुए पात्रमें, फूटी थालीमें, पात्रमें पात्र रखकर (जैसे थालीमें कटोरी आदि) भोजन न करे ।

धूल और दुर्गन्धरहित, प्रकाशयुक्त, शुद्ध हवादार स्थानमें भोजन बनाना चाहिये और चारों ओरसे घिरी हुई जगहमें बैठकर भोजन करना चाहिये । भोजन बनाने और परोसनेवाला मनुष्य दुराचारी, व्यभिचारी, चुगलखोर, छूतका रोगी, कोढ़ और खाज-खुजलीका रोगी, क्रोधी, वैरी और शोकसे ग्रसित नहीं होना चाहिये ।

जिस आसनपर भोजन करने बैठे उसको पहले झाड़ लेना चाहिये और सुखासनसे बैठकर भोजन करना चाहिये ।

भोजन करनेके स्थानमें अपने परिवारके लोग, मित्र और विश्वासी नौकरोंके सिवा और कोई नहीं रहना चाहिये ।

जो अन्न चोरी, ठगी, अन्याय अथवा दूसरेका हक मारकर उसके पैसोंसे आया हुआ हो, वैसा अन्न बुद्धिमान् पुरुष न खाय ।

भोजन करते समय गुस्सा न हो, कटुवचन न कहे, भोजनके दोष न बतलावे, रोवे नहीं, शोक न करे, जोरसे न बोले, किसी दूसरेको न छुवे ।

बहुत गर्म चीज और बहुत ठंडी चीज दांतोंसे चबाकर न खावे। निरा नमक न खावे। पहले मीठे, फिर नमकीन तब खट्टे और अन्तमें कटु तथा तीक्ष्ण पदार्थोंको खाय। वाणीका संयम करके अनिषिद्ध अन्न भोजन करे। अन्नकी निन्दा न करे। भोजनके आदिमें अदरखको कतरकर उसके साथ थोड़ा नमक मिलाकर खाना बहुत अच्छा है। जीभके स्वादवश भूखसे अधिक खा लेना उचित नहीं है।

अधिक तीखा, अधिक कड़वा, अधिक नमकीन, अधिक गरम, अधिक रूखा और अधिक तेज भोजन राजसी है और अधकच्चा, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, बासी और जूठा अन्न तामसी है। राजसी, तामसी अन्नका, मांस-मद्यका तथा शास्त्रनिषिद्ध अन्नका त्याग करना चाहिये। भोजनके समय अँगोछा बायें कन्धेपर जरूर रक्खे। केवल धोती पहने भोजन न करे।

एक थालीमें दो आदमी न खायँ। इसी प्रकार एक गिलास या कटोरेमें दूध तथा पानी न पीये। सोये हुए न खायँ। एक हाथमें अन्न लेकर दूसरे हाथसे न खायँ। दूसरेके आसनपर अथवा गोदमें लेकर अन्न न खायँ। चारपाईपर बैठकर या रखकर न खायँ। जिस घरमें मुर्दा पड़ा हो, वहाँ न खायँ। अपने आसनसे भोजनकी थालीको नीचे न रक्खे, बल्कि स्वयं कुछ नीचे आसनपर बैठकर थालीको ऊँची रक्खे।

सूर्यास्त होनेके बाद जिस चीजमें तिल हो ऐसी कोई चीज न खाय। जिस दूधमें नमक गिर गया हो उसे कभी न पीवे।

पीतलके बरतनमें खट्टी चीज रखकर न खाय। काँसीके बरतनमें या साफ धोयी हुई पत्तलोंमें या हरे पत्तोंमें भोजन करना अच्छा है।

एकादशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्याको व्रत रखना चाहिये। व्रतका अर्थ यह नहीं कि उस दिन अन्नके बदले खोवेका हलुआ आदि चीजें खायँ, उस दिन निराहार रहे या परिमित फलाहार करे। केवल जल पीना अच्छा है।

रजस्वला स्त्रीका स्पर्श किया हुआ, पक्षीका खाया हुआ, कुत्तेका छूआ हुआ, गायका सूँघा हुआ, केश-नख, कीड़ा, लार-थूक इत्यादि पड़ा हुआ, अपमानसे मिला हुआ तथा वेश्या, कलाल, कृतघ्नी, कसाई और राजाका अन्न नहीं खाना चाहिये।

स्त्री-पुरुषको एक साथ बैठकर, स्त्रीके भोजन करते समय तथा जहाँ स्त्रियाँ मनमाने रूपमें बैठी हों वहाँ भोजन नहीं करना चाहिये। जिन बरतनोंमें भोजन बनता हो वे सब बरतन भलीभाँति माँजे हुए होने चाहिये।

ताँबेके बरतनमें दूध न रक्खे। दूध इत्यादि गरम करते समय उन्हें ढक देना चाहिये।

भोजन सामग्रीकी शुद्धता

भोजनका सामान आटा, दाल, घी, मसाला आदि भण्डारमें जिन बरतनोंमें रहता हो, वे सब बरतन साफ किये हुए हों और ढककर रक्खे जायँ। बिना ढके बरतनोंमें चूहे घुस जाते हैं और वे वहाँ मल-मूत्रका त्याग करते हैं। चूहेके मल-मूत्र—दोनोंमें भयानक विष होता है। खुले बरतनोंमें दूसरे जानवर भी घुसकर सामानको गंदा कर सकते हैं।

खानेके सामानको बीच-बीचमें धूपमें रखनी चाहिये और उसी सामानसे भोजन बनाना चाहिये जो भलीभाँति चुगबीनके साफ किया हुआ हो ।

दूध, घी या अचारके बरतनमें अँगुली नहीं डालनी चाहिये । ऐसा करनेसे नखोंका जहर उनमें मिल जाता है । समय-समयपर अचार आदिको धूपमें रखना चाहिये ।

चौकेमें भोजन बनाकर जिन बरतनोंमें रक्खा हो, उन सबको ढककर रखना चाहिये । दही, दूध, मिठाई आदि पदार्थ जालीदार आलमारियोंमें रखने चाहिये ताकि उनपर मक्खी आदि न बैठने पावें ।

भोजन बनाते समय और परोसते समय बरतनोंपर जो ढक्कन रहता है, उसको उतारकर प्रायः जमीनपर रख दिया जाता है । ढक्कन भापसे गीला हुआ रहता है, जिसमें जमीनके जीव-जन्तु या मिट्टी वगैरह लग जाते हैं; फिर वही ढक्कन बरतनोंपर रख दिया जाता है, जिससे उसमें लगी हुई चीजें अंदर जाकर भोजन-सामग्रीको दूषित कर देती हैं । अतः यदि ढक्कनको उतारना हो तो किसी साफ थालीपर रक्खे और फिर उस ढक्कनको जब बरतनपर रखना हो तो उसे साफ अँगोछेसे पोंछकर रक्खे ।

इसी प्रकार साग, दाल, कढ़ी, खिचड़ी आदि चीजें परोसते समय जिस चम्मचको इनके अंदर डाला जाता है, उसे भी पोंछकर डालना चाहिये तथा जमीनपर नहीं रखना चाहिये ।

पीनेका पानी जिस बरतनमें रक्खा हो, उसे रोज अंदरसे धोना चाहिये, उसमें जलको छानकर रखना चाहिये तथा उसे भी ढक रखना चाहिये ।

भोजनके बाद आचमन करना चाहिये और दाहिने हाथके अँगूठेको होठोंपर फिराना चाहिये।

भोजन करते समय जल न पीना स्वास्थ्यके लिये बहुत अच्छा है। न रहा जाय तो भोजनके बीचमें थोड़ा जल पी लेना चाहिये। फिर एक-आध घंटेके बाद जल पीना उत्तम है।

पंगतमें भोजन करने बैठे तो सबके साथ उठना चाहिये। अपने जल्दी खानेकी आदत हो और पंक्तिमें कोई धीरे खानेवाले बैठे हों तो धीरे-धीरे खाना चाहिये। नहीं तो, हमारी थाली या पत्तलमें कुछ भी न देखकर उन्हें संकोच होगा और वे या तो जल्दी-जल्दी खायँगे जिसमें उन्हें कष्ट होगा या वे भूखे रह जायँगे।

जिस मनुष्यपर संदेह हो उसके हाथकी कोई चीज न खाय।

भोजनके बाद क्या करना, क्या न करना

भोजन करनेके अनन्तर दाँतोंको खूब अच्छी तरह साफ करना चाहिये, ताकि उनमें अन्नका जरा-सा भी कण न रह जाय। अन्नकण दाँतोंमें रह जानेपर सड़कर दाँतोंको कमजोर बनाता है तथा उसीसे पायरियाका रोग होता है। दाँतोंके बीचमें यदि फाँक हो गयी हो तो उसमें फँसे हुए अन्नकणोंको नीम आदिके तिनकेसे निकालकर अच्छी तरह धो लेना चाहिये।

कुल्ला करते समय मुँहको पानीसे भरा रखकर दस-पंद्रह बार छींटे देकर आँखोंको धोना चाहिये। मनुष्य दिनमें जितनी बार मुँहमें पानी ले उतनी ही बार यदि ऐसा करे तो उसकी आँखें बहुत तेज रहती हैं तथा उनके बिगड़नेका भय बहुत कम रहता है।

भोजनके बाद हाथ धोये हुए गीले हाथकी हथेलियोंको आँखों-पर फिरानेसे तथा सिरमें कंघी करनेसे भी आँखें तेज होती हैं। कंघी ऐसे करनी चाहिये जिसमें कंघीके काँटे सिरपर स्पर्श करें। इस प्रकार कंघी करनेसे वातरोग भी नहीं होता। कंघी काठ या चन्दनकी होनी चाहिये, रबड़की नहीं।

भोजनके उपरान्त सौ कदम चलना और मूत्र त्याग करना चाहिये। भोजनके बाद चूल्हेकी राखसे पैरोंको सेकना भी स्वास्थ्यके लिये बहुत उत्तम माना जाता है।

भोजनके बाद दौड़ना, कसरत करना, तैरना, नहाना, आग तापना, घुड़सवारी करना, मैथुन करना और तुरंत ही बैठकर काम करने लगना स्वास्थ्यके लिये बहुत हानिकारक है। खाकर तुरंत बैठ जानेसे पेट बढ़ता है, दौड़नेसे वायुकी वृद्धि होकर पेटमें शूल हो जाता है और पेटभर खानेके बाद फिर खा लेनेसे तो मृत्युका ही सामना करना पड़ता है। सौ कदम चलनेके बाद कुछ देर सीधे लेटकर फिर कुछ देर बायें करवट लेटना अच्छा है। परंतु लेटनेका मतलब सोना नहीं। जो भोजन करके तुरंत ही सो जाते हैं, उनका खाया हुआ अन्न नहीं पचता है।

रातको भी भोजन करके तुरंत नहीं सोना चाहिये, सोनेसे पूर्व सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय और भगवान्‌का स्मरण अवश्य करना चाहिये।

स्त्री-सहवास

ऋतुकालमें अपनी विवाहिता स्त्रीसे सङ्ग करना चाहिये। पहली चार रात्रियाँ और अष्टमी, अमावस्या, चतुर्दशी और

पूर्णिमा इन आठ रात्रियोंको छोड़कर ऋतुकालके दिनसे गिनकर सोलह रात्रियोंमेंसे आठ रात्रि स्त्री-सहवासके लिये मानी गयी है। इनमेंसे भी श्राद्ध, पर्व, व्रत, उपवास आदिके दिनोंको बाद देकर शेष रात्रियोंमें केवल दो रात्रि उचित समझी जाती है। बीमार, अप्रसन्न, दुःखिनी, शोकग्रस्ता, क्रोधिता, द्वेषयुक्त, भूखी और अधिक भोजन की हुई स्त्रीके साथ सहवास न करे। इसी प्रकार अपनेमें भी ये बातें हों तो स्त्री-गमन न करे। रजस्वला और गर्भिणी स्त्रीसे भी अलग रहे। रजस्वलागमन करनेसे बुद्धि, तेज, बल, नेत्र और आयुका नाश होता है। आँगन, तीर्थ, मन्दिर, गोशाला, श्मशान, उपवन, जल और लोकालयमें तथा प्रातःकाल, सायंकाल और मल-मूत्रके वेगके समय मैथुन कदापि नहीं करना चाहिये। परायी स्त्रीसे तो वाणीसे क्या मनसे भी अलग रहना चाहिये। परस्त्रीकी आसक्ति मनुष्यको इस लोक और परलोक—दोनों जगह भय देनेवाली है। इस लोकमें इससे मनुष्यकी आयु क्षीण होती है और मरनेपर वह नरकमें जाता है।

स्त्री-सङ्ग सन्तानोत्पत्तिके लिये ही होना चाहिये। इन्द्रियोंके तृप्तिजन्य मिथ्या आनन्दके लिये नहीं।

स्त्रियोंके साथ व्यवहार

सदाचारी पुरुषको स्त्रियोंसे यथासाध्य सदा ही अलग रहना चाहिये। छींकती हुई, खाँसती हुई और जम्हाई लेती हुई, चाहे जैसे बैठी हुई और नग्न स्त्रीको कदापि न देखे। स्त्रियोंमें जानेकी आवश्यकता हो तो चुपचाप न जाकर 'नारायण' 'नारायण' इत्यादि भगवन्नाम या कोई और शब्द उच्चारण

करते हुए जाना चाहिये, ताकि वे सावधान हो जायँ। स्त्रियोंके अङ्गोंकी ओर विशेषकर मुखकी ओर नजर न डाले, यदि पड़ जाय तो सकुचावे और पश्चात्ताप करे। स्त्रियोंमें जाना हो तो किसी दूसरे सच्चरित्र पुरुषको या अपनी मा-बहिनको साथ लेकर जाय। स्त्रियोंके समूहमें जाना, उनके आसपास घूमना, बातें करना, गाना-बजाना, हँसना-खाँसना, तालियाँ बजाना, पुरुषोंका आपसमें इशारे करना, आपसमें हँसी-मजाक करना कदापि उचित नहीं। परायी स्त्रीको मा समझे। मित्र, गुरु और राजाकी पत्नीको तथा अपनी सासको सगी माके समान और सलहज तथा सालीको बहिनके समान समझे। स्त्रियोंसे कभी लड़ाई-झगड़ा, विवाद, तर्क, शास्त्रार्थ न करे। स्त्री-दूकानदारके पास अगर वह युवती हो तो जहाँतक बने सौदा खरीदने न जाय। आवश्यकता पड़नेपर स्त्रियोंके सामने नहानेमें, वस्त्र पहननेमें, बहुत संकोच और सावधानी रक्खे। स्त्रियोंका तिरस्कार न करे, अपनी स्त्रीको अपना मित्र माने। भीख माँगनेवाली स्त्रीका अपमान न करे, बल्कि आदर करे, विधवा स्त्रीका संन्यासिनीकी भाँति खूब आदर करे तथा उसे सुख पहुँचावे। गंदी स्त्रियोंके चकलोंमें न जावे, उनके साथ बातचीत न करे, स्त्रियोंके चित्र न देखे और न उनके अङ्गाङ्गोंको दिखलानेवाले सिनेमा आदि देखे। स्त्रियोंके पास एकान्तमें न रहे। युवती बहिन और लड़कीके पास भी अनावश्यक एकान्तमें न रहे। युवती स्त्रियोंसे अनावश्यक पत्रव्यवहार न करे।

स्त्री-चिन्तन शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यके लिये बहुत ही हानिकर है।

शयन

रातको हाथ-पैर धोकर और उन्हें भलीभाँति पोंछकर काठकी चौकीपर या चारपाईपर सोना चाहिये। सोनेके घरमें कूड़ा-करकट न रहे। प्रकाश आता रहे। न हवा तेज आवे न बिल्कुल बंद हो। भगवान्‌के चित्रादि टँगे हुए हों। कमरा धूप इत्यादिसे सुगन्धित हो—ऐसे घरमें सोना चाहिये। चौकी बहुत छोटी, टूटी हुई, ऊँची-नीची, गंदी न हो तथा उसमें खटमल, जूँ आदि जीव-जन्तु न हों। उसपर साफ कपड़ा बिछा हुआ हो। सोते समय सदा पूर्वकी ओर सिर रखकर सोना चाहिये। अथवा दक्षिणकी ओर सिर करके सोनेमें आपत्ति नहीं है; परंतु उत्तर-पश्चिमकी ओर सिर करके सोनेसे रोग उत्पन्न होते हैं। सोनेके पूर्व मल-मूत्रका त्याग करके भगवान्‌का ध्यान कर लेनेके बाद करवटसे सोना चाहिये। यदि मच्छरोंका जोर हो तो मशहरी लगा लेना चाहिये। साधारणतया छः-सात घंटेतक सोना चाहिये। अभ्यास कर लेनेपर छः घंटेसे कम सोनेमें भी आपत्ति नहीं है।

नग्न होकर नहीं सोवे। स्त्री-पुरुष एक चारपाईपर न सोवें, ओढ़नेके एक कपड़ेको ओढ़कर दो आदमी न सोवें।

लेटकर और सिरहानेकी ओर लालटेन रखकर पढ़ना नहीं चाहिये। सोनेके कमरेमें जलती हुई लालटेन नहीं रखनी चाहिये। लालटेनके साथ अँगीठी तो नहीं ही रखनी चाहिये। इन दोनोंके संयोगसे एक जहरीला गैस पैदा होता है, जिससे सोनेवालेकी मृत्यु हो जाती है।

सोनेके समय मुँह ढककर और मोजा पहनकर नहीं सोना चाहिये। चारों ओरकी खिड़कियाँ बंद करके नहीं सोना चाहिये। जल्दी ही सोना और जल्दी उठ जाना चाहिये।

सोनेका घर सामानसे भरा हुआ नहीं होना चाहिये। खटमल, पिस्सू और जूँ आदि न पैदा हों, इसलिये घरको साफ रखना चाहिये तथा कपड़ों और बिछौनेको बीच-बीचमें धूप जरूर देना चाहिये।

साधारण सदाचारके नियम

अपने कुल, शील और देशाचारके अनुसार वस्त्र पहने। निर्दोष लोकाचारका त्याग न करे।

अतिथिमात्रका सम्मान करे। गृहस्थको अपनी शक्तिके अनुसार आसन, भोजन, बिछौना, जल और फल-मूलादिके द्वारा सत्कार किये बिना अतिथिको घरसे नहीं जाने देना चाहिये।

किसी सम्मान्य अतिथिके आनेकी सूचना पहलेसे मिल जाय और अपने यहाँ रेलवे-स्टेशन हो तो उन्हें लेनेके लिये स्टेशनपर जाना चाहिये। आदरपूर्वक उन्हें घर लाकर उनके सुभीतेके अनुसार ठहराना चाहिये।

घरपर अचानक अतिथि आ जायँ तो उठकर उनका स्वागत-सत्कार करे। उन्हें ऊँचे आसनपर बैठावे। यथासाध्य उनके अनुकूल स्थान और भोजनादिका प्रबन्ध करे। अच्छा आसन, अच्छे बरतन, अच्छा भोजन, हरेक अच्छी चीज सम्मान्य अतिथिको देनी चाहिये। उनके आराम और सुभीतेका खयाल रखना चाहिये। रूबरू बतलानेमें संकोच हुआ करता है, इसलिये उनके साथ नौकर हो तो उससे

उनके खान-पान, शयन आदिके बारेमें पूछ ले। नौकर न हो तो नम्रतापूर्वक उन्हींसे पूछ ले । उनके भोजन करते समय स्वयं वहाँ खड़ा रहे और अपने हाथसे उनकी रुचिके अनुसार उन्हें खानेको परोसे । उनसे पहले भोजन न करे । जिस घरसे अतिथि नाराज होकर चला जाता है, उसका धर्म वह ले जाता है ।

घरपर कोई (उम्र, विद्या, बुद्धि, यश, धन, पद, वर्ण, गुण आदिमें) अपनेसे बड़े पुरुष आ जायँ तो उठकर उनका स्वागत करे। नम्रतापूर्वक बातचीत करे । अपनेसे ऊँचे आसनपर उन्हें बैठावे ।

केश, नख और दाढ़ी आदिको विशेष न बढ़ने दे । विश्वासी नाईसे हजामत बनवावे । अस्तुरा और कैंची अपनी अलग रक्खे तो बहुत अच्छी बात है । हजामत बनानेसे पूर्व नाईके बरतनोंको तथा हथियारोंको अच्छी तरह मँजवाकर धुलवा दे । पानी अपनी कटोरीमें दे।

भोजनके बाद तथा अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्याको हजामत न बनवावे ।

उगते और अस्त होते हुए सूर्यको न देखे । बछड़को बाँधनेकी रस्सीको न लाँघे, बरसातमें न दौड़े तथा जलमें अपना मुँह न देखे।

मिट्टीके ढेर, गौ, देवमूर्ति, ब्राह्मण, घी, शहद, चौराहा, बड़, पीपल आदि प्रसिद्ध वृक्ष रास्तेमें हों तो उन्हें दाहिने देकर जाय ।

बोझ उठाये हुए आदमी, गर्भिणी स्त्री, रोगी, वृद्ध, कुलवती स्त्री, अपनेसे बड़े लोग, विद्वान् और साधु-महात्मा मार्गमें मिल जायँ तो उनके लिये रास्ता छोड़ दे । भोजन, अग्नि, थूक, हड्डीको लाँघकर न जाय ।

कोई स्त्री या पुरुष जो भोजन करता हो, नहाता हो, दवा लेता हो, बच्चेका मल-मूत्र धोता हो तो उसे उस समय दूसरे काममें न भेजे ।

चारपाईके नीचे आग न रक्खे । आकाशका इन्द्र-धनुष किसीको न दिखलावे ।

मल-मूल, थूक, अपवित्र वस्तु, जूठन, खून, जहर, काँच आदि चीजोंको तालाबमें या कुएँमें न डाले । बिना सबको बाँटे अकेला स्वादिष्ट अन्न न खावे । दूध पीते हुए छोटे बछड़ेको अलग न करे । जिस गाँवमें अधार्मिक लोग रहते हों और जहाँ छूतकी बीमारियाँ फैली हों वहाँ न रहे ।

काँसेके बरतनमें पैर न धोवे । वृथा चेष्टा न करे । बैठे-बैठे मिट्टी फोड़ना, नखोंसे जमीन कुरेदना, तिनके तोड़ना बहुत हानिकर है ।

दूसरेके पहने हुए जूते, वस्त्र, जनेऊ, गहने और माला आदि न पहने ।

जूआ कभी न खेले । हाथमें जूता लेकर न चले ।

भाँग, गाँजा, चरस आदि न पीवे, शराब कभी न पीवे ।

ज्यादा हँसी-मजाक न करे, किसीपर आक्षेप न करे, चुभती बात किसीको न कहे । गंदी बात न कहे ।

केश, राख, हड्डी, टूटे हुए खपड़े, बिनौले और धानकी भूसीपर न बैठे । इनपर बैठनेसे आयु घटती है ।

नौकरोंके साथ अच्छा बर्ताव करे, बीमारी और तकलीफमें उनकी सेवा और यथाशक्ति सहायता करे । उन्हें नीचा न समझे ।

पतित, चाण्डाल, मूर्ख, अभिमानी, नट, कृतघ्नी, आलसी, महापापी, चोर, डाकू, अपवित्र और शत्रुओंके साथ न बैठे।

दोनों हाथोंसे सिर न खुजलावे। जूठे मुँह मस्तकको स्पर्श न करे। चाहे जहाँ न थूके; थूक पोंछे हुए रूमालको रोज धो डाले। दूसरेके रूमाल या अंगोछेसे अपना मुँह न पोंछे।

नित्य माता-पिता और गुरुकी सेवा, उनका आज्ञापालन तथा पितरोंका श्राद्ध करे।

देवमूर्तिकी, पिता आदि गुरुजनोंकी, राजाकी, स्नातककी, आचार्यकी, काली गायकी, यज्ञमें दीक्षा लिये हुए पुरुषकी और चाण्डालकी छायाको इच्छापूर्वक न लाँघे।

रास्ता देकर चले, रास्तोंमें बातचीत न करे, भीड़में किसीको धक्का न दे, भूलसे धक्का लग जाय तो उससे क्षमा माँगे। अपने लग जाय तो बुरा न माने।

मध्याह्नके समय, आधी रातको, श्राद्धमें भोजन करके प्रातः-सायंकालकी सन्धिके समय चौराहेपर न खड़ा रहे।

शरीरकी मैल उतारनेके लिये लगाये हुए उबटन, नहाये हुए जल, विष्ठा, मूत्र, रक्त, कफ, थूक और उलटी (वमन)—इन वस्तुओंपर इच्छापूर्वक न खड़ा रहे।

वैरी, वैरीके सहायक, अधार्मिक मनुष्य, लोभी, कामी, चोर और परस्त्रीका सङ्ग कदापि न करे।

यथासाध्य किसीके यहाँसे कोई चीज मँगनी न मँगावे। यदि आवश्यकतावश मँगानी पड़े तो मँगानेकी अपेक्षा उसे

वापस भेजनेका खयाल अधिक रक्खे, चीज बिगड़ जाय तो उससे बिना पूछे ही दूसरी नयी मँगवा दे।

किसीका थोड़ा-सा भी धन हरण न करे और जरा भी कड़वा न बोले। मिथ्या वचन मीठा हो तब भी न बोले और अप्रिय सत्यसे भी बचा रहे।

दूसरोंकी स्त्रीमें, दूसरोंके धनमें तथा दूसरोंके साथ वैर करनेमें कभी अभिरुचि न करे।

किसी दूसरेके यहाँ मेहमान बनना पड़े तो खयाल रक्खे कि जिसमें उसको संकोचमें न पड़ना पड़े। अपनी आवश्यकताओंको वहाँ इतनी घटा ले कि उसे किसी प्रकार भी दिक्कत न हो। उसका सुभीता देखकर उसीके अनुसार सब बातोंमें बरत लेना चाहिये।

लोकद्वेषी, पतित, पागल और जिसके बहुत-से वैरी हों, ऐसे दूसरोंको सतानेवाले, मनुष्य, कुलटा स्त्री, कुलटाके पति, अवारे, झूठ बोलनेवाले, अधिक खरचीले, दूसरोंकी निन्दा करनेवाले और दुष्ट मनुष्योंके साथ मित्रता न करे।

जलप्रवाहके सामने स्नान न करे, जलते हुए घरमें प्रवेश न करे, पेड़की चोटीपर न चढ़े।

दाँतोंको परस्पर न घिसे। नाकको अंगुलीसे न कुरेदे। कानमें तिनके न डाले। दाँतोंको पिन, सूई या चाकू वगैरहसे न कुरेदे। मुँहको बंद करके जमुहाई न ले और न बंद मुँहसे खाँसे। नखोंको न चबावे। मूँछके, भ्रूके और पलकोंके

केशोंको हाथसे न उखाड़े। जोरसे न हँसे। तिनका न तोड़े और धरतीपर न लिखे। मूँछ-दाढ़ीके बालोंको न चबावे। दो ढेलोंको आपसमें न रगड़े। निन्दित नक्षत्रोंको न देखे। दाँत और सींगवाले पशुओंसे, ओससे, सामनेकी हवासे तथा सिरके ऊपरके धूपसे अपनेको सदा बचावे। नग्न होकर स्नान और आचमन न करे।

उत्तम या अधम किसी भी आदमीसे विरोध न करे। कलह न बढ़ावे। व्यर्थ वैरका त्याग करे। थोड़ी हानि सह ले, किंतु वैरसे कुछ लाभ भी होता हो तो उसे भी त्याग दे।

पैरके ऊपर पैर न रक्खे। बड़ोंके सामने पैर न फैलावे। ऊँचे आसन (अभिमानके आसन) पर न बैठे। बैठे हुए लोगोंके बीचसे निकलना हो तो नीचे झुककर दाहिने हाथको फैलाकर मानो रास्ता माँगता हुआ निकले।

सभाके बीचसे न उठे। खाँसी, पेशाब आदिकी बीमारीके कारण यदि उठनेकी सम्भावना हो तो बीचमें न बैठकर पहलेसे दूर बैठे। सभामें बातचीत न करे, जोरसे हँसे नहीं।

पूज्य और परिचित पुरुषको मार्गमें देखते ही उनके करनेसे पहले ही उनको प्रणाम या उनका अभिवादन करे।

रातके समय जंगलमें हाथमें लाठी लेकर जाय। बाहर जाना हो तो जूते पहन ले। वर्षा और धूपमें छाता रक्खे। छाता एक हो और दूसरा साथी हो तो छाता पहले उसे देना चाहिये, वह न ले तो उसको छातेके नीचे तो अवश्य ले ले।

काने-कूबड़े या लूले-लँगड़ेको, ज्यादे अङ्गवालेको, विद्या-

हीनको, बूढ़ेको, कुरूप और दरिद्रको तथा नीची जातिवालेको 'तू काना है', 'छः अंगुलीवाला है', 'मूर्ख है', 'कुरूप है', 'कंगाल है', 'नीच है' आदि कहकर कभी चिढ़ावे नहीं ।

जूठे मुँह और मल-मूत्रका त्याग करके स्नान किये बिना गाय, ब्राह्मण और अग्निको न छूए । अपवित्र अवस्थामें सूर्य-चन्द्रमा आदिको न देखे । बिना कारण शरीरके नीचेके अङ्गोंका स्पर्श न करे ।

अपने पास जो कुछ हो, उससे यथासाध्य सब प्राणियोंकी सेवा करे । किसी प्राणीको किसी प्रकारसे दुःख, भय और कष्ट न दे, जान-बूझकर किसीका अहित कभी न करे । पशु-पक्षियोंपर न तो निर्दयता करे और न होने ही दे, पीड़ित पशुओंकी सेवा करे और करावे।

भूले हुए मनुष्यको साथ जाकर रास्ता बता दे । पूछनेवालेसे प्रेम तथा सहानुभूतिके शब्दोंमें बोले ।

गरीब-दुखीके साथ बहुत ही मीठा बोले और यथासाध्य उसकी सहायता करे ।

रेलगाड़ी छूटते समय रेलके डिब्बेमें चढ़ते हुए मनुष्योंको न रोके । झूठ ही मुसाफिरोंसे यह न कहे कि 'आगे बहुत डिब्बे खाली हैं ।' जिस डिब्बेमें बहुत भीड़ हो, उसमें चढ़कर पहले बैठे हुए लोगोंकी तकलीफ न बढ़ावे, समय हो तो दूसरे डिब्बे ढूँढ़ देखे ।

गाड़ीमें रोगी, स्त्री, वृद्ध या बच्चे खड़े हों तो उन्हें जगह देकर स्वयं खड़ा हो जाय । वे जगते हों तो स्वयं बैठकर उन्हें सोनेको जगह दे दे । यथाशक्ति सभी साथी मुसाफिरोंको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करे, परंतु इनका विशेष खयाल रक्खे ।

गाड़ीमें भीड़ हो और पैसे खर्च करनेकी ताकत हो तो ऊँचे दर्जेका टिकट खरीदकर उसमें बैठ जाय। कमखर्ची बहुत अच्छी, परंतु कंजूसी अच्छी नहीं।

रेलके डिब्बेमें अंदर न थूके, बाहर मुँह निकालकर थूके। भीतर पानी न उँड़ेले। हाथ धोने हों तो खिड़कीसे बाहर हाथ निकालकर नीचे करके धोवे, नहीं तो पीछेके डिब्बोंमें बैठे हुए लोगोंको उस पानीके छींटे लगेंगे।

सदाचारका खुद सावधानीके साथ पालन करके बच्चोंको सदाचार सिखावे। बच्चोंको मारकर, उनपर खीझकर उन्हें सदाचारी नहीं बनाया जा सकता। पहले खुद सदाचारी बननेसे ही वे सदाचारी बनेंगे।

दूसरोंकी बुराइयोंकी न चर्चा करे, न मनमें उनका मनन करे। दूसरोंके ऐबोंको किसीसे न कहे।

अड़ोसी-पड़ोसियोंके घरोंमें आपसमें कोई घरेलू झगड़े हों तो उससे अपना कोई सम्बन्ध न रक्खे, झगड़ोंकी उनसे या किसी-से कोई चर्चा न करे। जिससे बात की जायगी, उसके विरोधीकी बात ठीक बतायी जायगी तो वह नाराज होगा और उसकी ठीक बतायी जायगी तो उसका विपक्षी नाराज होगा। हो सके तो दोनोंकी बातें सुनकर उनके झगड़ेको मिटा दे। पड़ोसियोंका या गाँववालोंका झगड़ा मिटानेमें समय लगानेके अतिरिक्त, अपनेको कुछ खर्च करना पड़े और अपनी सामर्थ्य हो, तो खर्च करके भी उनके झगड़ेको मिटा देना चाहिये।

झूठे आदमियोंका उनकी झूठको सच बतानेमें कभी साथ न दे, इससे अपना विश्वास और नष्ट हो जायगा।

गरीबकी मददसे मुख न मोड़े और पापबुद्धि तथा दूसरोंको सतानेवालेकी मददको पाप समझे।

किसीके धर्म और ईश्वरकी निन्दा न करे। उसके धर्मपालनमें (यदि अपने धर्मानुसार वह पाप न हो तो) यथाशक्ति उसकी सहायता करे।

बुरा करनेवालेका भी, उसपर विपत्ति पड़नेपर, भला करनेकी ही चिन्ता और चेष्टा करे। किसीका भी न तो बुरा चाहे और न स्वार्थवश जान-बूझकर करे ही।

लोभवश पापसे धन न कमावे। दूसरेको छलकर, ठगकर, उसकी वस्तु चुराकर, उसका हक मारकर धन कमाना बड़ा पाप है। पापकी कमाई परिणाममें बहुत ही दुःखदायिनी होती है, एक बार चाहे उसमें सुख और उन्नति दीखे।

दूसरेकी अवनति और पतनमें कभी तनसे, वचनसे या मनसे सहायक न हो। भूलसे, परिस्थितिमें पड़कर, किसीसे कोई दोष बन गया हो और वह उसे पश्चात्तापपूर्वक स्वीकार करता हो तो उसे हृदयसे लगावे। सहानुभूतिके साथ उसे उस कुपथसे हटाकर सुमार्गपर लगा दे। उससे घृणा न करे, न उसके दोषका प्रचार ही करे।

गरीब कुटुम्बीका भूलकर भी अनादर न करे, बल्कि उसे विशेष आदर दे। विवाह-शादी आदिमें भाई-बन्धुओंके इकट्ठे होनेपर गरीब भाईका सत्कार करना कभी न भूले। कहीं जाने-

आनेमें गरीब भाई साथ हो तो यह विशेषरूपसे खयाल रक्खे कि हमारे किसी बर्तावसे उसको अपमानका बोध न हो जाय। जहाँ अपना स्वागत-सत्कार होता हो वहाँ अपने साथीको साथ रक्खे। गरीब समझकर उसकी उपेक्षा न करे।

दो आदमी बातें करते हों तो उनके बीचमें न बोले। उनकी बातोंको सुननेकी चेष्टा न करे। दूसरेके पत्र न पढ़े, न उनकी गुप्त बातोंको जाननेकी कोशिश करे।

किसी काममें जल्दबाजी न करे। खूब सोच-समझकर, भविष्य विचारकर अपनी ताकतका खयाल करके किसी काममें हाथ डाले। काम शुरू करनेपर प्राणपणसे उसे सफल बनानेकी चेष्टा करे। घबरावे या उकतावे नहीं।

किसीके बारेमें कुछ कहना हो तो सोच-समझकर कहे। ऐसी सच्ची बात भी पीठ-पीछे न कहे जो उसके सामने नहीं कही जा सकती हो। जिन शब्दोंको लोगोंके सामने कहनेमें लज्जा आती हो, उन्हें मनमें भी न आने दे।

किसीके गुप्त दोष या छिद्रकी बात याद दिलाकर उसे संकोचमें न डाले; न इस हेतुसे उसे दबाकर अपना कोई काम निकाले।

अपनी निन्दा सुनकर क्रोध न करे, बड़ाई सुनकर फूले नहीं। दूसरेके गुण सुनकर हरखे, किंतु निन्दा सुननेमें दिलचस्पी न दिखावे। मान-बड़ाईका त्याग मनसे करता रहे। किसीसे विवाद या शास्त्रार्थ न करे। यदि किसी विषयमें तर्क होने लगे और जब यह देखे कि सामनेवाला हार रहा है तो उस प्रसङ्गको इस चतुराईसे

बंद कर दे जिसमें पास बैठे लोगोंको यह पता न लगे कि वह हार रहा है, इसलिये प्रसङ्ग रोक लिया गया है ।

किसीका भी अपमान न करे — पुत्र, शिष्य और सेवकका भी नहीं । किसीको जबान न दे । यदि दे तो उसको सावधानी और टेकके साथ निभावे । विश्वासघात न करे । दूसरा अपनी जबान परिस्थितिवश न निभा सके तो उसपर नाराज न हो ।

अपमान या तिरस्कारपूर्वक दान न दे । दान देकर गिनावे नहीं । दान देनेवालेसे अपना मतलब निकालनेकी चेष्टा न करे । अपने पक्षका समर्थन करनेके लिये उसे दबावे नहीं । उपकार सेवा समझकर करे । अभिमानसे उसे दबाने, नीचा दिखाने और काम निकालनेके लिये नहीं ।

बेकारोंको कमाईके काममें लगा देना उनकी बड़ी सेवा करना है । भाई-भाई या हिस्सेदारोंमें जब बँटवारा हो तो कोई चीज न छिपावे, न अधिक हिस्सा पानेकी इच्छा करे, न कोशिश करे और मिलनेपर भी न लेवे ।

जहाँतक चल सके, किसीसे भी कर्ज न ले । कर्ज लिये बिना काम न चले तो उतना ही ले जितना आसानीसे चुकाया जा सके; और उसे चिन्ता रखकर शीघ्र ही चुका दे । जिससे अपने रुपये लेने हों और वह यदि ऐसी तंग हालतमें पड़ गया हो कि रुपये किसी तरह भी न दे सकता हो तो उसे सतावे नहीं । रहनेका घर किसीका भी नीलाम न करावे ।

ऐसा कोई काम न करे जिससे सहायताके लिये दूसरोंका मुँह ताकना पड़े और चाहे जिसके सामने हाथ फैलाना पड़े ।

भूल किससे नहीं होती। अपने मातहतों, नौकरोंके द्वारा कोई भूल हो जाय तो उनसे नाराज न हो, उन्हें बार-बार कोसकर बुरा-भला कहकर उस भूलको उनके पल्ले न बाँध दे। उनकी भूलको सहे और प्रेमसे समझा-बुझाकर उनके चित्तमें शान्ति और प्रसन्नता पैदा करके उनको ऐसी स्थितिमें लाना चाहिये, जिसमें उनसे आइंदा भूल कम हो। भूलसे सर्वथा रहित तो एक परमात्मा ही है।

रोगीकी सेवा सच्चे मनसे करे, उसको यह न मालूम हो कि इन्हें भार मालूम हो रहा है या ये मेरे ऊपर कोई अहसान करते हैं। रोगीके कपड़े-बिछौने रोज बदले। सहानुभूतिपूर्वक उसकी बातें सुने। दवा ठीक समयपर दे। उसके लिये जो कुपथ्य है, उन चीजोंको उसके सामने लाना और स्वयं खाना तो दूर रहा, उसकी चर्चा भी उसके सामने न करे। सेवा करनेमें अपना सौभाग्य माने। रोगीका थूक, मवाद आदि दूर धरतीमें गाड़ दे। जिन कपड़ोंमें थूक, मवाद आदि लगे हों, उन्हें गरम जलसे साबुनसे तुरंत धुला दे। जिन कपड़ोंसे खून आदि पोंछा जाय, उन्हें जला दे।

ईश्वर सदा तुम्हारे साथ है, तुम्हारी हरेक क्रियाको—मनकी गुप्त-से-गुप्त क्रियाको भी देखता है। उससे छिपाकर तुम कुछ भी नहीं कर सकते। इस बातको न भूले।

ईश्वर सदा तुम्हारा सहायक है, तुम्हारी रक्षाके लिये तैयार है। तुम्हारा योगक्षेम वहन करनेको प्रस्तुत है, इस निश्चयसे कभी मनको न डिगने दे।

श्रीभगवान्‌के नामका जप, कीर्तन, उनके गुणोंका गान और

श्रवण, उनके यशका विस्तार, उनके स्वरूपका चिन्तन और ध्यान यथाशक्ति स्वयं करे और सबसे प्रेमपूर्वक करानेकी चेष्टा करे। जीवको आध्यात्मिक उन्नतिके मार्गपर लगाकर उसे भगवदभिमुखी करनेसे बढ़कर और कोई भी पुण्यकार्य नहीं है।

परमात्मा ही सत् हैं, उनमें रमण करना ही सच्चा सदाचार है। परमात्माकी विस्मृति ही दुराचार है। अतएव जहाँतक हो तन-मन-धनको परमात्माके अर्पण करके, सब कुछ परमात्माका समझकर परमात्माकी शक्ति और प्रेरणासे, परमात्माके प्रीत्यर्थ ही तन-मन-वचनसे सब क्रियाएँ करनी चाहिये। यही सदाचारका परम साधन है।

स्त्रियोंका सदाचार

स्त्रियोंको स्वास्थ्य, स्थान, भोजन आदिके नियम पुरुषोंकी भाँति ही पालने चाहिये। नित्य प्रातःकाल भगवान्‌का स्मरण और इष्टदेवताका पूजन अवश्य करना चाहिये। स्नान करके स्त्री सूर्यको अर्घ्य अवश्य दे। बड़ी स्त्रियोंको प्रणाम करे। सधवा स्त्री पतिको भी प्रणाम करे।

स्त्रीको इन बातोंका जरूर त्याग करना चाहिये—

१—जोरसे बोलना।

२—जोरसे हँसना।

३—अपरिचित मनुष्यसे बातचीत करना।

४—पर-पुरुषोंसे व्यर्थ बातचीत करना।

५—मार्गमें जोर-जोरसे बोलना।

६—पुरुषोंके समाजमें अनावश्यक जाना।

७—गंदे सिनेमा आदि देखना।

८–खुली जगहमें नहाना ।

९–भोजनमें अपने-परायेका भेद रखना । जेठानी, देवरानी, ननद या भौजाईके बालकोंको अच्छी चीज खानेको न देना।

१०–लड़के और लड़कीके साथ बर्तावमें भेद रखना ।

११–ऐसे स्थानोंमें कपड़े पहनना या शृङ्गार करना जहाँसे लोग देख सकते हों ।

१२–पर-पुरुषसे एकान्तमें मिलना, भाई और पिताके पास भी अनावश्यक एकान्तमें रहना, पुरुषोंसे हँसी-मजाक करना ।

१३–गंदे गीत ।

१४–बेकाम दूसरोंके घर जाना-आना ।

१५–पुरुषोंके आने-जानेके स्थानमें मल-मूत्रका त्याग करना ।

१६–नौकरोंके सामने खुले बदन रहना और उनसे बिना संकोच बातचीत तथा हँसी-मजाक करना ।

१७–घूम-फिरकर बेचनेवाले सौदागरोंको घरमें बुलाकर उनसे सौदा खरीदना ।

१८–ऐसे महीन वस्त्र पहनना जिनसे अंदरका बदन दिखायी दे ।

१९–(भक्ति और श्रद्धाके साथ भी) किसी भी पुरुषका स्पर्श करना । पर-पुरुषके चरण छूना ।

२०–पतिसे छिपाव या चोरी करना ।

२१–अतिथिका सत्कार न करना ।

२२–शारीरिक परिश्रम—पीसना, कूटना आदि न करना ।

२३—गहने-कपड़ोंमें अधिक रुचि रखना और केवल उन्हींके सीने-सिलाने और बनानेमें मन लगाये रखना ।

२४—अपरिचित लोगोंसे निःसंकोच बातें करना ।

२५—पुरुषोंकी सभाओंमें जाकर भाषण आदि करना ।

स्त्रियोंको सदा आनन्दमें रहना, घरका काम-काज दक्षतासे करना, घरकी चीजोंको साफ रखना तथा घरके खर्चकी सम्हाल रखनी चाहिये ।

पतिव्रता स्त्री पतिकी आज्ञाके बिना कोई व्रत आदि न करे ।

नम्रता, सेवा, विनय, सहनशीलता, प्रेम, कार्यदक्षता आदि स्त्रियोंके खास गुण हैं, इन गुणोंको बढ़नेकी निरन्तर चेष्टा करे ।

विधवा स्त्री मनको शान्त रखकर मृत्युपर्यन्त ब्रह्मचर्यको पाले । मनु महाराज कहते हैं कि 'जो विधवा स्त्री ब्रह्मचर्यका पालन करती है, वह पुत्रहीना होनेपर भी मोक्ष प्राप्त करती है; पर जो स्त्री पुत्र-लोभसे व्यभिचार करती है, वह नरकगामिनी बनती है ।

पर-पुरुषके स्मरण न करनेका नाम मनःसंयम, पर-पुरुषके गुणोंका बखान न करनेका नाम वाक्-संयम तथा पर-पुरुषके शरीर-स्पर्श न करनेका नाम शरीर-संयम है । जो स्त्री इन तीनों धर्मोंका पालन करती है, वह दिव्य पतिलोकमें जाती है ।

बच्चोंका सदाचार

छोटे बच्चे (बालक-बालिका) नित्य सूरज उगनेसे पहले उठें, उठते ही भगवान्‌को याद करें, आँख-मुँह धोकर पाठ याद करें ।

बच्चोंके पढ़नेका स्थान, शान्त, सुन्दर, प्रकाशमय और खुली

हवाका होना चाहिये । बच्चोंके पढ़नेका सबसे अच्छा समय प्रातःकाल है । बच्चोंको मारना, डराना तथा उनके सामने भूत-प्रेतकी बातें नहीं करनी चाहिये । बच्चोंके सामने मा-बापको शरीर, मन, वाणीसे संयम रखना चाहिये । बच्चे सबसे पहले माता-पिताकी नकल करना सीखते हैं । उनके सामने असंयम आवेगा तो वे सहज ही असंयमी बन जायँगे ।

बच्चे प्रातःकाल उठकर मा-बाप और बड़ोंको प्रणाम करें । नहा-धोकर कुछ कलेऊ करें और यथासमय भोजन करें । मा-बाप तथा गुरुकी आज्ञा मानें । किसीसे लड़ें नहीं, दूसरोंकी चीज न चुरावें । सबसे प्रेमसे रहें । सिरको ओर लालटेन रखकर न पढ़ें । रोज कसरत करें, खेलें । अपनी चीज दूसरोंको देकर उनकी सेवा करें । पर दूसरोंकी चीज बिना पूछे और बिना काम न लें । खानेकी चीज सबको बाँटकर खावें । अकेले न खावें । गहने-कपड़ोंसे प्रेम न करें ।

वानप्रस्थका सदाचार

वानप्रस्थ वनमें रहकर त्रिकाल स्नान-सन्ध्या करे । हजामत न बनवावे । घासके बिछौनेपर सोवे । पञ्चयज्ञ करे, केवल फल-मूलका भोजन करे । सब प्राणियोंके प्रति दयालु हो । नारायणपरायण रहे तथा वेदाध्ययन करता रहे । रातमें भोजन न करे । मैथुन, निद्रा, आलस्य, परनिन्दा, मिथ्या वाक्यका त्याग कर मनमें निरन्तर भगवान्‌का ध्यान करे । चान्द्रायण आदि व्रत करे, सरदी-गरमी सहे और अग्निसेवन करे । जब सब वस्तुओंमें वैराग्य हो जाय तब संन्यास ग्रहण कर ले ।

संन्यासीका सदाचार

संन्यासी इन्द्रियोंको और मनको जीते हुए हों। काम-क्रोधादिसे रहित हों। वस्त्रहीन रहें या कौपीनादिको धारण करें, सिरपर केश न रक्खें। शत्रु-मित्र, मानापमानमें समान रहें। एक दिनसे अधिक गाँवमें न रहें। तीन दिनसे अधिक नगरमें न रहें। नित्य भिक्षा करके अपना निर्वाह करें। जब गाँवमें चूल्होंका धुआँ बंद हो जाय तब वह उठकर एक गृहस्थके घर जायँ और जो कुछ मिले उसे ही खायें। संन्यासीको नित्य ब्रह्मपरायण, संयतचित्त और जितेन्द्रिय रहना चाहिये। संन्यासी नित्य प्रणवका जप करते रहें, वे आत्माको नारायणस्वरूप, अभय, द्वन्द्व, ममता और मात्सर्यसे रहित, शान्त, मायातीत, अविनाशी, पूर्ण सच्चिदानन्दस्वरूप, सनातन, निर्मल और परम प्रकाशमय समझें। 'आत्मामें न विकार है, न उसका आदि है, न अन्त है, वह गुणातीत है और सर्व है।' इस प्रकार समझते हुए साधन करनेवाले दोषरहित, ध्याननिष्ठ संन्यासी परमानन्दस्वरूप सनातन परब्रह्मको प्राप्त होते हैं।

सदाचारी पुरुषके लिये सबसे अधिक आवश्यक है काम-क्रोधादि मानसिक दोषोंसे बचकर भगवान्‌में मन लगाना, इसीसे मनु महाराज कहते हैं कि 'केवल नियमोंके पालनसे ही काम नहीं चलता। यमोंका पालन भी अवश्य करना चाहिये।' यम ये हैं—

आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा दममस्पृहा।
ध्यानं प्रसादो माधुर्यमार्जवं च यमा दश॥

१ प्राणीमात्रपर दया, २ बुरा करनेवालेपर भी क्षमा, ३ सत्य-

का अवलम्बन, ४ किसी भी प्रकारसे किसी भी प्राणीको पीड़ा न पहुँचाना, ५ इन्द्रियोंका भलीभाँति दमन, ६ किसी भी वस्तुकी कामनाका न रहना, निष्कामभाव, ७ भगवान्‌के ध्यानमें तल्लीनता, ८ चित्तकी सात्त्विक प्रसन्नता, ९ मधुरता और १० सरलता।

अतएव सदाचार पालन करनेवालोंका इनकी ओर लक्ष्य अवश्य रहना चाहिये। विष्णुपुराणमें कहा है—

> सदाचाररतः प्राज्ञो विद्याविनयशिक्षितः।
> पापेऽप्यपापः परुषे ह्यभिधत्ते प्रियाणि यः॥
> मैत्रीद्रवान्तःकरणस्तस्य मुक्तिः करे स्थिता॥
> ये कामक्रोधलोभानां वीतरागा न गोचरे।
> सदाचारस्थितास्तेषामनुभावैर्धृता मही॥
> प्राणिनामुपकाराय यथैवेह परत्र च।
> कर्मणा मनसा वाचा तदेव मतिमान् भजेत्॥
> (३।१२।४१-४२, ४५)

'जो विद्याविनयसम्पन्न, सदाचारी प्राज्ञ पुरुष पापीके साथ भी पापमय व्यवहार नहीं करता, कठोर पुरुषोंसे भी प्रियभाषण करता है तथा जिसका अन्तःकरण मैत्रीभावनासे द्रवीभूत रहता है, मुक्ति उसकी मुट्ठीमें रहती है। जो वैराग्यवान् महापुरुष कभी काम, क्रोध और लोभादिके वशमें नहीं होते तथा सदाचारमें स्थित रहते हैं, उन्हींके प्रभावसे पृथ्वी टिकी हुई है। अतः जो कार्य इस लोक और परलोकमें प्राणियोंके उपकारका साधक हो, बुद्धिमान् पुरुषको मन, वचन, और कर्मसे उसीका आचरण करना चाहिये।'

संतोष

आजकल ऐसा कहा जाता है कि 'आलसी और अकर्मण्य लोग अपनी दुर्बलताको छिपानेके लिये संतोषकी दुहाई दिया करते हैं, वस्तुतः संतोष ऐसे ही निकम्मे लोगोंके कामकी चीज है। इस संतोषकी भावनाने ही भारतवासियोंको कर्तव्यविमुख बनाकर पराधीनताकी कठिन बेड़ीमें जकड़ दिया है। इससे मुक्त होनेका उपाय असंतोषकी वृद्धि और विस्तार ही है। असंतोष ही उन्नतिका मूल है, असंतोष ही अपनी स्थितिका सच्चा अनुभव कराकर आगे बढ़नेके लिये प्रोत्साहित करता है, असंतोषसे ही जीवनमें जागृति आती है और असंतोष ही मनुष्यको कर्तव्यपरायण बनाकर उसे सुखी बना सकता है।'

यह सत्य है कि लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिये चित्तमें एक असंतोषकी वृत्ति जागनी चाहिये—परंतु वह लक्ष्य क्या है, यही सबसे बड़ा विचारणीय प्रश्न है। विषय-सुखके लिये असंतोषकी जागृति कदापि लाभदायक नहीं है; क्योंकि विषय-सुख वास्तविक सुख है ही नहीं। विषय-सुखके लिये जितना असंतोष बढ़ेगा, जितनी उसे पानेकी चेष्टा होगी और जितने विषय प्राप्त होंगे, उतना ही विषयोंका अभाव बढ़ेगा। विषयोंकी कितनी ही प्राप्ति हो जाय, कितने ही दुर्लभ विषय मिल जायँ, मनुष्यका मन कदापि उनसे तृप्त नहीं हो सकता। राजा ययातिने पुत्रकी जवानी लेकर हजारों वर्षोंतक विषय-भोग करके भोगतृष्णाको मिटाना चाहा, परंतु वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी, तब हारकर उन्होंने कहा—

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेष्वमङ्गलम्।
समदृष्टेस्तदा पुंसः सर्वाः सुखमया दिशः॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते।
तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत्॥
पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयान् सेवतोऽसकृत्।
तथापि चानुसवनं तृष्णा तेषूपजायते॥
(श्रीमद्भा० ९। १९। १३—१६, १८)

'पृथ्वीमें जितने खाने-पीनेके सामान, धन-दौलत, हाथी-घोड़े, गाय-बैल, स्त्री-पुत्र हैं, उन सबके मिल जानेपर भी कामासक्त मनुष्यके मनको कभी तृप्ति नहीं हो सकती। विषयोंकी कामना उनके भोग करनेसे कभी शान्त नहीं होती, बल्कि घी डालनेसे जैसे आग और भी भड़कती है, वैसे ही भोग मिलनेसे कामनाकी आग भी अधिक भड़कती है। जब मनुष्य किसीका भी बुरा न चाहकर सब प्राणियोंमें समदृष्टि हो जाता है, तब उसके लिये सभी दिशाएँ सुखमयी हो जाती हैं। जिसका त्याग करना दुर्बुद्धि पुरुषोंके लिये बहुत कठिन है और शरीरके जीर्ण होनेपर भी जो जीर्ण नहीं होती, सुखी होनेकी इच्छा हो तो उस दुःखमयी तृष्णाको शीघ्र त्याग देना चाहिये। मुझे पूरे एक हजार वर्ष निरन्तर विषय-सेवन करते हो गये; परंतु मेरी तृष्णा नहीं बुझी, वह उलटे बढ़ती ही

जाती है ।' ज्यों-ज्यों विषयोंकी तृष्णा बढ़ेगी (चाहे वह व्यक्तिगत हो या देशगत) त्यों-ही-त्यों अभावका विस्तार होगा, फलतः दुःख बढ़ता जायगा ।

अतएव यह अनित्य, अपूर्ण और क्षणभङ्गुर विषयसुख मानव-जीवनका लक्ष्य नहीं है । मानव-जीवनका लक्ष्य तो उस सर्वोपरि सुखकी प्राप्ति है जो अखण्ड, अनन्त, पूर्ण और सदा एकरस है । इसलिये जिस पुरुषको वास्तविक सुखकी चाह हो उसे भोगतृष्णाका दमन करके भगवान्‌के विधानानुसार जो कुछ भी सुख-दुःख प्राप्त हो, उसीमें संतुष्ट रहना चाहिये । तृष्णानाशपूर्वक संतोषमें जैसा सुख है, वैसा सुख लोक-परलोकके किसी भी भोगमें नहीं है ।

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्य महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

'सांसारिक भोगोंमें और स्वर्गादिके दिव्य महान् सुखोंमें कोई-सा भी सुख तृष्णाक्षयके सुखके सोलहवें भागके बराबर भी नहीं है ।' योगाचार्य श्रीपतञ्जलिने कहा है—

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ।

(योगदर्शन, साधनपाद ४२)

'संतोषसे अनुत्तम सुखकी—निरतिशय आनन्दकी प्राप्ति होती है ।' संतोषसे नित्य सर्वगत आत्मामें स्थिति होती है तथा तभी सच्चा और अखण्ड निरतिशय आनन्द मिलता है; क्योंकि अनन्त, असीम, सनातन, नित्य, सर्वगत, अचल, अविनाशी आनन्द आत्मामें ही है । यह आनन्द ही आत्माका स्वरूप

है। इसीसे आत्माराम पुरुषोंको अभावका बोध नहीं होता और वे हर हालतमें आत्मानन्दमें निमग्न रहते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
(गीता ३। १७)

'जिसकी आत्मामें रति है, जो आत्मामें ही तृप्त है और आत्मामें ही संतुष्ट है उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।'

संतोष आलसी और अकर्मण्य पुरुषोंके कामकी चीज नहीं है, आलसी और अकर्मण्य पुरुष संतोषी नहीं होते, वे तो कामनाकी ज्वालामें सदा जलते रहते हैं, उनकी तृष्णा कभी नहीं मिटती; कुशलतापूर्वक कर्म करनेकी शक्ति और मति न होनेके कारण वे संतोषका नाम ले लेते हैं। उनका वह संतोष आध्यात्मिक पथके परम साधनरूप 'संतोष' से सर्वथा भिन्न एक तामसिक भावमात्र है। संतोष तो मनुष्यको विषयासक्तिसे छुड़ाकर, तृष्णाके तपते हुए प्रवाहसे पृथक् कर ईश्वराभिमुखी बनाकर सच्चा कर्तव्यशील बना देता है। शान्तचित्त संतोषी पुरुष ही अपने सारे व्यक्तिगत स्वार्थोंको छोड़कर निष्कामभावसे देश और विश्वके कल्याणके लिये सम्यक्‌रूपसे यथायोग्य कर्तव्य-कर्मका आचरण कर सकता है।

संतोषकी भावनाने भारतवासियोंको कर्तव्यविमुख और पराधीन बना दिया है, यह कल्पना भ्रममात्र है। बल्कि संतोषका अभाव और तृष्णाकी प्रबलता ही देश-प्रेम और विश्व-प्रेमके

आदर्श भावोंको कुचलकर—सबको सुखी देखनेके उदारभावको नष्ट कर—मनुष्यके मनमें देश और विश्वके प्रति विश्वासघात करनेवाली नीच वृत्तियाँ पैदा कर देती है। भोगतृष्णाके कारण मनुष्य अपने जरा-से व्यक्तिगत स्वार्थके लिये देशात्मा और विश्वात्माका हनन करनेको तैयार हो जाता है और फलतः अपनी ही मूर्खतासे अपना विनाशसाधन कर बैठता है। इससे यह सिद्ध है कि असंतोष उन्नतिका नहीं, वरं अवनतिका ही मूल है।

असंतोषसे जीवनमें जागृति नहीं आती। जीवनमें सच्ची जागृति आती है सत्त्वगुणके बढ़नेसे—

'सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।'

असंतोषसे तो सत्त्वगुणका विकास रुक जाता है जिसके फलस्वरूप भय, द्वेष, शत्रुता, हिंसा और व्यष्टि तथा समष्टिके हृदयमें अशान्ति और दुःखोंकी बाढ़ आ जाती है। यही कारण है कि आज जगत्में जितना असंतोष बढ़ रहा है उतने ही भय, द्वेष, शत्रुता, हिंसा, अशान्ति और दुःखोंका जोर भी बढ़ रहा है।

असंतोषसे होनेवाले भावी सुखकी मिथ्या आशामें साधन होनेपर भी दुखियोंके दुःखनिवारणकी चेष्टा न करना बहुत बड़ी भूल है। बुद्धिमान् पुरुषको ऐसी गलती नहीं करनी चाहिये।

संतोषके साधनसे मनुष्यकी भोगलालसा शान्त होती है, वह परमात्मापर विश्वास करके सत्य तथा न्यायके मार्गसे जीवननिर्वाह करना सीखता है और सत्यकी रक्षाके लिये प्राणोंको न्योछावर कर सकता है। परमात्मा ही एकमात्र सत्य हैं और

उनकी प्राप्ति ही मानव-जीवनका एकमात्र उद्देश्य है, इस सत्यको पानेके लिये संतोषका साधन करना परम आवश्यक है।

संतोषका साधन दो प्रकारसे होता है—आत्माके स्वरूपको समझकर आत्माकी पूर्णतामें विश्वास करनेसे, अथवा परम मङ्गलमय सर्वसुहृद् भगवान्के विधानपर निर्भर करनेसे! दोनोंका फल एक ही है। एक ज्ञानियोंका मार्ग है, दूसरा भक्तोंका। भगवान्ने गीतामें भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए दो बार 'संतुष्ट' शब्दका प्रयोग करके भक्तोंमें संतोषकी आवश्यकता सिद्ध की है।

संतुष्टः सततम्', 'संतुष्टो येन केनचित्।'

(गीता १२। १४, १९)

चतुर्थ अध्यायमें भगवान्ने कहा है—

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

(गीता ४। २२-२३)

'जो पुरुष भगवान्के विधान और प्रकृतिके नियमानुसार बिना ही प्रयास प्राप्त वस्तु और स्थितिमें संतुष्ट है, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे अतीत है, किसीकी वस्तु या स्थितिपर डाह नहीं करता तथा सफलता-असफलतामें समबुद्धि रहता है वह कर्तव्य-कर्म करनेपर भी कर्मबन्धनमें नहीं बँधता; क्योंकि आसक्तिसे रहित, परमात्माके ज्ञानमें स्थित चित्तवाले मुक्त पुरुषके समस्त कर्म, जो वह स्वाभाविक

ही यथार्थ—लोक-कल्याणार्थ करता है, परमात्मामें ही प्रविलीन हो जाते हैं।'

इससे यह सिद्ध होता है कि संतोष मनुष्यको कर्तव्य-कर्म-त्यागके लिये बाध्य नहीं करता, बल्कि वह उसे अचल समत्वकी शान्तिमयी भूमिकापर पहुँचाकर सदाके लिये सुखी बना देता है; और जो-जो उसके सम्पर्कमें आते हैं, उनको भी सुखी बनानेकी चेष्टा करता है।

---

(४)

सरलता

आजके जगत्‌में ज्यों-ज्यों इस जडपूजापरायण नवीन सभ्यताका प्रचार बढ़ रहा है, त्यों-ही-त्यों मनुष्योंके जीवनमें कपट और दम्भ भी बढ़ रहे हैं, ऊपरसे सुन्दर-सुहावने बने रहना—अंदर चाहे जितनी बुराइयाँ भरी रहें। 'मन मैला तन ऊजला' यह आजकी सभ्यताकी एक नीति है। सरल मनका सीधा-सादा व्यवहार आजकल मूर्खता माना जाता है। इसीलिये आजकलका पढ़ा-लिखा नवयुवक अपने सरलहृदय पिताको मूर्ख कहकर उसका अपमान कर सकता है। यद्यपि ऐसी घटनाएँ हमारी सभ्यताके प्रभावसे बहुत कम होती हैं। परंतु इनका आरम्भ हो गया है, यह तो मानना ही पड़ेगा। सरलता शुद्ध हृदयका सुन्दर संकेत है। सरल हृदय ही पवित्र होता है। जो मनुष्य सरलहृदय है, वह अपने पापको प्रकाश करनेमें नहीं हिचकता। हँसी होनेकी कल्पना उसे सत्यसे नहीं

डिग सकती। वह अपनी बुराइयोंको कपटकी चादरतले छिपाना नहीं जानता। जगत्‌को धोखा देकर मिथ्या मान अर्जन करनेकी कलासे वह अनभिज्ञ होता है। ऐसे मनुष्य जगत्‌के झूठे मान-यशसे और पूजा-प्रतिष्ठासे भले ही वञ्चित रह जायँ, परंतु उनके हृदयमें पापका प्रवेश सहज ही नहीं हो सकता। आजकलके लोग जो सरलताको मूर्खताका पर्याय बतलाते हैं, यह उनकी नासमझी है। सरलता मूर्खता नहीं, वह अन्तःकरणकी पवित्रताका मूर्तरूप है। सरलताके साथ सात्त्विक शुद्ध बुद्धिका सर्वथा सामञ्जस्य है। इसीलिये महान् दार्शनिक महापुरुषोंके जीवनमें—जिनके एक-एक शब्दको समझनेमें बड़े-बड़े विद्वान् और बुद्धिमानोंकी बुद्धि चक्कर खा जाती है और जिसे तत्त्वतः समझनेके लिये साधना करनी पड़ती है—छोटे बच्चोंकी-सी शुद्ध सरलता देखी जाती है। वे बड़ी-से-बड़ी विकट शङ्काओंका समाधान कर सकते हैं—दर्शनोंकी विचित्र गुत्थियोंको सहज ही सुलझा सकते हैं; परंतु छल करके एक बातको दूसरे रूपमें कहना नहीं जानते। व्यवहारमें कपट करना उन्हें नहीं आता। यह सरलता पवित्र व्यक्तित्वका एक प्रधान लक्षण है। सरलता भगवान्‌की प्रीतिसाधनका एक अमोघ साधन है। अन्तर्यामी भक्तवत्सल भगवान् छलछिद्रभरे हृदयवालोंके पास भी नहीं फटकते, (मोहि कपट छल छिद्र न भावा।) चाहे वे कितनी ही सुन्दर शब्दरचना करके उनकी स्तुति करते हों और कितनी ही बहुमूल्य सामग्रियोंसे उनकी पूजा करना चाहते हों। उन्हें तो सरल हृदयके भक्तजन ही प्यारे होते हैं। सरलतामें ही श्रद्धा टिकती है, कूटनीतिका पोषक सूखा बुद्धिवाद तो श्रद्धाका शत्रु है। जहाँ श्रद्धा नष्ट हो जाती है, वहाँ मनुष्यके सारे कर्म व्यर्थ होते हैं। भगवान् कहते हैं—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥
(गीता १७ । २८)

'प्यारे अर्जुन ! अश्रद्धासे किया हुआ हवन, दान, तप या जो कुछ भी कर्म है, वह असत् कहलाता है; वह इस लोक और परलोकमें कुछ भी लाभदायक नहीं होता।' श्रद्धासे अर्पण किया हुआ एक साधारण फूल, जपा हुआ एक ही भगवान्‌का नाम, दिया हुआ थोड़ा-सा दान भी महान् फल उत्पन्न करता है। जहाँ कपटतापूर्ण बुद्धि-कौशल सरलताका तिरस्कार करता है, वहाँ श्रद्धा नहीं ठहर सकती और अश्रद्धालु पुरुष सब कुछ करके भी उसके लाभसे वञ्चित ही रह जाता है।

सरलहृदय मनुष्य बुद्धिके अभिमानी पुरुषोंकी दृष्टिमें कभी-कभी ठगा जाता हुआ-सा प्रतीत होता है, परंतु वह ठगाकर भी वस्तुतः कुछ नहीं ठगाता। परम न्यायकारी और दयालु परमेश्वरके राज्यमें ठगनेवाला ही ठगाता है। ठगानेवाला तो सदा लाभमें ही रहता है। सर्वशक्तिमान् भगवान् अपने उस सरलहृदय भक्तके योगक्षेमका बहुत सुन्दर रूपसे वहन करते हैं। इसलिये वह सब कुछ खोकर भी बदलेमें ऐसी अनुपम वस्तु पाता है, जिसकी तुलना संसारके किसी भी महान्-से-महान् पदार्थसे हो ही नहीं सकती।

भगवान्‌ने गीतामें सरलताको आर्जवके नामसे दैवी-सम्पदाका एक प्रधान गुण बतलाया है। सरलता तन-मन-वचन तीनोंमें होनी चाहिये। शरीरसे अकड़कर न चले; अकड़कर चलना, टेढ़ा चलना अभिमानादिका परिणाम है। मनमें कोई कपट और कुटिलता

न रक्खे। वाणीमें छल-छिपाव न हो, चेहरेपर भी ऐसी मधुर सरलता हो जो सबके हृदयको हर सके। शिशुओंके सरल मुख और उनकी सरल हँसीको देखकर कितना मन मुग्ध होता है। उनकी विपरीत चेष्टा भी सरलताके आधारपर होनेके कारण किसीको अप्रीतिकर नहीं होती। इसी प्रकार सरल हृदय, सरल वचन और सरल शरीरवाला पुरुष भी सबको सुखदायी होता है, वह अभिमानी नहीं होता और भगवान्‌को तो बहुत ही प्यारा होता है।

(५)

सत्य

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'

(गीता २। १६)

'जो असत् है वह कभी है ही नहीं और जो सत् है वह सदा ही है।'

जो सब समय, सब जगह, नित्य अखण्ड अबाधितरूपसे स्थित है, जो सदा एकरस और सम है, जिसके प्रकाशसे ही सारा जगत् प्रकाशित, जिसके प्राणसे समस्त ब्रह्माण्ड अनुप्राणित, जिसकी सत्तासे सब चराचर सत्तावान् और जिसके प्रमाणसे सब प्रमाणित है, वही सत्य तत्त्व है। इस सत्यमें स्थित पुरुष ही सच्चे संत हैं और इस सत्यकी प्राप्तिके लिये प्राणपनसे प्रयत्न करनेवाले पुरुष ही सच्चे साधक हैं; क्योंकि वस्तुतः इस सत्यसे अनुस्यूत कर्म ही सत्कर्म हैं, इस सत्यसे पवित्र हुई वाणी ही सत्-शास्त्र है, इस सत्यसे समाहित आचार ही सदाचार है, इस सत्यसे समन्वित धर्म ही सद्धर्म है, इस सत्यसे विकसित विवेक ही आत्मप्रकाश है, इस

सत्यसे पूर्ण जीवन ही दिव्य जीवन है और इस सत्यसे समुदित सुख ही परम सुख है।

यत् सत्यं स धर्मो यो धर्मः स प्रकाशो यः प्रकाशस्तत् सुखमिति। यदनृतं सोऽधर्मो योऽधर्मस्तत्तमो यत्तमस्तद् दुःखमिति॥

(महाभारत)

'जो सत्य है वही धर्म है, जो धर्म है वही प्रकाश है और जो प्रकाश है वही सुख है। जो असत्य है वही अधर्म है, जो अधर्म है वही तम (अन्धकार) है और जो अन्धकार है वही दुःख है।'

सत्य ही नित्य, विभु, सनातन और अमृत-तत्त्व है। इन लक्षणोंवाला सत्य ही परमात्मा है और परमात्मा ही सत्य है। इस सत्यस्वरूप परमात्माकी या परमात्मारूप सत्यकी प्राप्ति सत्यके द्वारा ही सत्यकी सेवा करनेसे होती है। सत्यकी शक्तिसे सत्यको पवित्र बनाकर सत्यको लक्ष्य करके ही सब समय सत्यका प्रयोग करना चाहिये, यही सत्यके द्वारा सत्यकी सेवा है।

सर्वत्र व्याप्त सत्यको हम सत्यकी आँखोंसे ही देख सकते हैं, सत्यके कानोंसे ही हम उस सत्य मुरलीध्वनिको सुन सकते हैं और सत्यके द्वारा ही हम उस सत्यका सतत स्पर्श पा सकते हैं; इसलिये हमें अपने मन-बुद्धिको, प्रत्येक आन्तर और बहिरिन्द्रियको, तमाम शरीरको इसी सत्यकी शोधमें—सत्यकी सेवामें ही लगा देना चाहिये।

हमारे जीवनका लक्ष्य सत्य ही रहे। सत्य भगवान्‌का नाम है, अतएव भगवान् ही हमारे एकमात्र ध्येय हों। भगवान्‌के

बिना और यदि कुछ है तो वह सर्वथा असत् है, है ही नहीं । जो है ही नहीं, उसको लक्ष्य बनानेसे व्यर्थताके सिवा और क्या हाथ लग सकता है ? हाँ, बार-बार असफलता और निराशाके कारण दुःख जरूर मिलेगा । इसीलिये भगवान्‌ने अपनेसे विरहित, अनित्य विषयोंसे भरे इस अनित्य संसारको और संसारमें होनेवाले अनित्य जन्मको 'असुख' (सुखरहित) या 'दुःखालय' (दुःखपूर्ण) बतलाया है । इसलिये जो मनुष्य अनित्य और असत्य विषयोंको सत्-सुखके साधन समझकर नित्य सत्यस्वरूप भगवान्‌को भूलकर विषय-साधन और विषय-सेवनमें ही लगे रहते हैं; वे प्रतिक्षण व्यर्थतारूप भवसागरमें पड़े हुए एक दुःखसे दूसरे दुःखकी भीषण तरङ्गोंसे टकराते रहते हैं और बड़ी ही बुरी तरहसे बेबसीके साथ दुःखसमुद्रमें डूब जाते हैं । इन सब बातोंको समझकर बुद्धिमान् पुरुष सत्यस्वरूप परमात्मामें ही परम सुख समझकर उन्हींको अपने जीवनका एकमात्र लक्ष्य बनाते हैं ।

यद्यपि मनुष्यका लक्ष्य सुनिश्चित और सुस्थिर हो जानेपर लक्ष्यतक पहुँचनेके मार्गमें उससे सहज ही भूल नहीं होती; क्योंकि लक्ष्यकी नित्य स्मृति रहनेसे वह स्वाभाविक ही बार-बार इस बातकी जाँच करता रहता है कि मैं ठीक मार्गपर हूँ या नहीं; और जरा भी कहीं विपरीत या विकट मार्ग दीखता है तो वहीं वह सावधानीके साथ विपरीत मार्गको त्याग देता है और विकट मार्गमें अपनेको सुरक्षित बनाकर आगे बढ़ता है ।

परंतु यह तो सुदृढ़ लक्ष्यपर स्थित होकर जो मार्गपर चलने लगे हैं, उनकी बात है । जिन्होंने मार्गपर चलना आरम्भ नहीं

किया है या जो बहुत कम आगे बढ़े हैं, उन लोगोंके लिये तो बड़ी सावधानीके साथ लक्ष्यकी रक्षा करते हुए सत्यपूत विहित मार्गपर चलनेकी आवश्यकता है। मनुष्य कहीं जानेका निश्चय करता है और चल भी देता है; परंतु रास्तेमें साथियोंसे बातोंमें लगकर लक्ष्य भूल जाता है, फलतः राह भटक जाता है। खेल-तमाशोंमें या अन्य किन्हीं वस्तुओंके रसास्वादनमें लगकर भी पथिक लक्ष्यसे भ्रष्ट हो सकता है। इसी प्रकार साधन-जगत्‌में भी लक्ष्यभ्रष्ट होना बड़ी बात नहीं है। ऐसी अवस्थामें सावधानीके साथ लक्ष्य और मार्गपर सदा सतर्क दृष्टि रखते हुए ही आगे बढ़ना चाहिये। यह सावधानी सभी क्षेत्रोंमें और सभी ओरसे सर्वदा रहनी चाहिये। सत्यसे पूर्ण विचार, भाव, कर्म, वचन और साधन-भजन सभीके द्वारा सत्यका सदा सेवन करना चाहिये।

सद्विचारोंके द्वारा सत्यका सेवन

'जगत्‌का रचनेवाला ईश्वर कोई नहीं है, यह संसार ईश्वरीय सत्यसे रहित है, केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे ही पैदा होता है। इस जगत्‌में पैदा होकर बस, सब प्रकारसे मौज-शौक ही करनी चाहिये। शरीरका आराम, भाँति-भाँतिके इन्द्रियोंको तृप्त करनेवाले भोग, सर्वत्र फैली हुई नाम-कीर्ति, यही सब तो यहाँका आनन्द है। शरीरमें भरपूर शक्ति रहे—सब लोग हमारा रोब मानें। भोगोंके भोगमें हम कभी अशक्त न हों, इसके लिये पौष्टिक भोजन तथा शक्तिवर्धक ओषधियाँ सेवन करनी पड़ें तो कोई हर्ज नहीं। हमारे सुखके लिये ही हमें ध्यान देना है, इसमें दूसरोंकी क्या गति होगी, इसकी

हमें क्यों परवा होनी चाहिये। ये सब लोग तो हमारी सेवाके लिये ही बने हैं। हमारा अधिकार और हमारी हुकूमत बढ़ती रहे, हम देशके राजा, नेता, पथ-प्रदर्शक, सबके पूज्य, गुरु और सबके आराध्य हों, जिससे हम खूब आरामसे रहें। सभी लोग हमारे आरामकी माँगोंको बिना ही माँगे पूरी करनेको तैयार रहें। हमारी बराबरी करनेवाला कोई न हो, हम चाहे जिसे मारें या छोड़ें। सब शत्रु हमसे डर जायँ, सब हमारे अधीन हो जायँ। बस, जगत्‌में केवल हमारा ही झंडा फहराये। हम ही सुखी हों, शक्तिमान् हों, स्वामी हों, धनी हों, भोगी हों और सफलजीवन हों, शेष सब हमसे नीचे रहें।' इत्यादि। ये सब असत्-विचार हैं। इन विचारोंके द्वारा असत्यका ही ग्रहण होता है और उसका परिणाम महान् विपत्ति, घोर यन्त्रणा, भीषण व्याधि तथा नीच और नारकी योनिकी प्राप्ति होती है। इन सब असत्-विचारोंको बलपूर्वक त्यागकर बदलेमें निम्नलिखित सद्विचारोंकी उत्पत्ति और पुष्टि करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

१—ईश्वर हैं और वे एक, अनन्त, असीम, अचल, अखण्ड, अज, अविनाशी, नित्य, सत्य, सनातन, सम, विज्ञानानन्दघन, सर्वशक्तिमान्, सर्वोपरि, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वरूप, सर्वतश्चक्षु, सर्वनियन्ता, सच्चिदानन्द और पूर्ण हैं। वे निर्गुण भी हैं, सगुण भी हैं; साकार भी हैं, निराकार भी हैं और इन सबसे परे भी हैं। वे अनिर्वचनीय हैं, अचिन्त्य हैं तथापि भक्तवत्सल हैं, हमारे परम सुहृद् हैं, सब जीवोंके कल्याणकर्ता हैं; पुकारनेसे ही प्रकट हो जाते हैं और हमें दुःखोंसे छुड़ाकर अनन्त सुखधाममें पहुँचा देते हैं।

२—उन्हींकी शक्ति-प्रकृति उन्हींकी अध्यक्षतामें जगत्‌की रचना करती है। उन्हींकी शक्तिसे जगत्‌का भरण-पोषण, नियन्त्रण और संहरण होता है।

३—यह सारा विश्व उन परमात्मासे ही निकला है, उन्हींसे बना है, वे ही इस समस्त चराचरात्मक विश्वमें व्याप्त हैं और यह सभी केवल उन्हींमें स्थिर है।

४—आराम, विलासिता, भोग, नाम-यश, स्त्री-पुत्र, राजत्व-नेतृत्व, गुरुत्व-पूज्यत्व आदिकी प्राप्ति इस मानव-जीवनका उद्देश्य कदापि नहीं है।

५—सबको सुख पहुँचाते हुए, सबका मङ्गल चाहते हुए, सबका कल्याण करते हुए, सबके आराम तथा हितके नित्य साधन बनकर तन, मन, धन, पदार्थ आदि सभी सामग्रियोंसे सर्वगत परमात्माकी पूजा करके उन्हें प्राप्त करना ही हमारे जीवनका एकमात्र उद्देश्य या ध्येय है।

यही सद्विचार हैं—सत्य विचार हैं। ऐसे विचारोंके उदय, पोषण, विस्तार और प्रचारके लिये स्वाध्याय, सत्सङ्ग तथा आचरणके द्वारा नित्य श्रद्धापूर्वक इनका पठन, श्रवण, मनन और सम्पादन करना ही सद्विचारोंके द्वारा सत्यका सेवन करना है।

सद्भावोंके द्वारा सत्यका सेवन

राग, भय, मान, अभिमान, निर्दयता, कठोरता, आसक्ति, कामना, ममता, अहङ्कार, मोह, द्वेष, वैर, स्वार्थ, विषमता, कृपणता, चञ्चलता, विषाद, शोक, अश्रद्धा, असूया, काम, क्रोध, लोभ, उग्रता, अशुचिता आदि भाव असत् या असत्य हैं। इनके

उत्पादन, पोषण और सेवनसे असत्यकी वृद्धि और असत्यमें स्थिति होती है । इनके बदलेमें—

(१) वैराग्य (इहलोक और परलोकके देखे-सुने हुए तथा देखे-सुने जानेयोग्य सभी भोगोंसे चित्तका हट जाना ।)

(२) निर्भयता (सर्वत्र भगवान्‌को और भगवान्‌के विधानको देखकर निर्भय रहना ।)

(३) निर्मानता (सारे जगत्‌को भगवान्‌का स्वरूप समझकर अपनेको उनका तुच्छ सेवक जानकर मानरहित रहना ।)

(४) निरभिमानता (धन, जन, स्वास्थ्य, विद्या, रूप, बुद्धि आदि सब भगवान्‌के दिये हुए हैं, भगवान्‌की सेवाके लिये ही हैं, यह समझकर निरभिमान रहना ।)

(५) दया (अपने-परायेके भेदको भूलकर किसी भी दुखी जीवको देख-सुनकर उसके दुःखसे चित्तका पिघल जाना और उसके दुःख दूर करनेका प्रयत्न करना ।)

(६) कोमलता (मन-वाणीमें नम्रता होना ।)

(७) अनासक्ति (किसी भी वस्तु या कर्ममें मनका न फँसना ।)

(८) निष्कामभाव (किसी भी वस्तुकी कामना न होना ।)

(९) निर्ममता (भगवान्‌को छोड़कर किसी भी वस्तुमें मेरापन न रहना ।)

(१०) निरहंकारता (शरीरमें 'मैंपन' का सर्वथा अभाव ।)

(११) विवेक (नित्य-अनित्य, कर्तव्य-अकर्तव्यका विचार करनेवाली बुद्धि ।)

(१२) प्रेम (सब जीवोंसे स्वार्थरहित प्रेम करना ।)

(१३) मित्रता (सब जीवोंके प्रति मित्रभाव रखना ।)

(१४) त्याग (दूसरोंके सुख और हितके लिये परमात्माके प्रीत्यर्थ समस्त भोगोंका तथा स्वार्थोंका त्याग ।)

(१५) समता (शोक-हर्ष, सुख-दुःख, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, सिद्धि-असिद्धि आदिमें समचित्त रहना तथा सब जीवोंमें आत्मदृष्टिसे समरूपसे स्थित भगवान्‌को देखना ।)

(१६) उदारता (अपने पास जो कुछ भी हो, उसे दूसरोंके कामके लिये देनेमें चित्तका परम प्रसन्न होना ।)

(१७) शान्ति (चित्तका सदा परमात्माके ध्यान या चिन्तनमें स्थिर रहना ।)

(१८) सुख (सदा सब अवस्थाओंमें परमात्माको देखकर सुखी रहना ।)

(१९) आनन्द (आत्मा आनन्दस्वरूप है, मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं, इस भावसे नित्य आनन्दमय रहना ।)

(२०) श्रद्धा (शास्त्र, भगवान् और सद्गुरुके वचनोंमें प्रत्यक्षवत् विश्वास करना ।)

(२१) असूया (किसीमें कोई दोष न देखना, न आरोपण करना ।)

(२२) ब्रह्मचर्य (मनसे काम-भावका त्याग ।)

(२३) अक्रोध (दूसरेकी किसी भी क्रियासे क्रोधका कारण उपस्थित होनेपर भी चित्तमें क्रोधका विकार न होना।)

(२४) क्षमा (अपनी बुराई करनेवालेको दण्ड देनेका या दिलानेका सामर्थ्य रहते हुए भी दण्ड देने-दिलानेका भाव न होना और उसका उलटा उपकार करना या परमात्मासे उसपर क्षमा एवं कृपा करनेके लिये प्रार्थना करना ।)

(२५) तितिक्षा (कष्टोंको सुखपूर्वक सहना ।)

(२६) संतोष (भगवान्‌के विधानसे जो कुछ प्राप्त हो, उसीमें संतुष्ट रहना ।)

(२७) शीतलता (चित्तका सदा सौम्य और शीतल रहना।)

(२८) पवित्रता (चित्तमें बुरे भावोंका न रहना ।)

ये तथा ऐसे ही अन्य भाव सद्भाव हैं; इनका पूर्ण विकास हो, इसके लिये चेष्टा करनी चाहिये । ऐसा करना सद्भावोंके द्वारा सत्यका सेवन करना है ।

सत्कर्मोंके द्वारा सत्यका सेवन

हिंसा, परपीडा, चोरी, ठगी, अत्याचार, अनाचार, व्यभिचार, अशिष्टाचार, शारीरिक अपवित्रता, धोखा देना, विश्वासघात करना, माता-पिता, गुरु आदिके प्रति बुरा व्यवहार, पत्नीका तिरस्कार, बालकोंको दुःख देना, दुखियोंकी उपेक्षा करना, पशु-पक्षियोंको सताना, कायरतावश अत्याचारको सहन करना, साधु-संतोंका एवं महात्माओंका विरोध, शास्त्रप्रतिकूल आचरण आदि दुष्कर्म, सभी असत् हैं और असत्यके उत्पादक, संग्राहक और पोषक हैं ।

इन सबको छोड़कर अहिंसा, सेवा, दान, आश्रय, सरल व्यवहार, शुद्ध व्यवहार, प्रेमपूर्ण व्यवहार, अष्ट मैथुनका त्याग, बड़ोंका सम्मान, शारीरिक पवित्रता, व्यवहार-व्यापारमें या जीविकाके कर्मोंमें बुद्धिमत्त युक्त सरल, सत्य तथा परहितकारक बर्ताव, माता-पिता, गुरु आदिको नित्य प्रणाम करना और उनकी श्रद्धापूर्वक सेवा करना, पत्नीका सम्मान करना, गरीब, अनाथ और विधवाओंका हित चाहना और करना, बालकोंको सुख देना और उनका हित करना, अत्याचारका साहसके साथ व्यक्तिगत द्वेषबुद्धिको त्यागकर प्रतीकार करना, पशु-पक्षियोंको सुख पहुँचाना, सच्चे साधु-संतों और महात्माओंका सेवा-सम्मान करना, शास्त्रानुकूल नित्य-नैमित्तिक तथा वर्णाश्रमानुसार कर्म करना और किसी प्रकारकी भी कामनाको मनमें न रखकर केवल भगवत्प्रीत्यर्थ ही इनका सुचारुरूपसे सम्पादन करना सत्कर्मोंके द्वारा सत्यका सेवन करना है ।

सत्यवचनके द्वारा सत्यका सेवन

मिथ्या बोलना, कड़वी जबान बोलना, किसीकी निन्दा या चुगली करना, हिंसायुक्त बोलना, अभिमानकी बातें कहना, शाप देना, गाली-गलौज करना, गंदी वाणी बोलना, व्यर्थ मजाक करना, उद्वेग पैदा करनेवाले वचन कहना, जिससे किसीका अहित होता हो ऐसी बात कहना, ताने मारना, आक्षेप करना, दिल्लगीमें, जोशमें स्वार्थवश, अभ्यासवश या टालनेके लिये झूठी प्रतिज्ञाएँ करना, कही हुई बातसे पलट जाना, कहे हुए वचनोंको जानकर लापरवाहीसे या प्रमादसे पूरा न करना, छिपाकर असत्य बोलना, झूठी गवाही देना, परचर्चा करना

या व्यर्थ अधिक बोलना आदि सभी वाणीके दोष होनेसे असत्य हैं। बड़ी सावधानीसे इन सबका त्याग करके निम्नलिखित रूपसे वाणी बोलनेका अभ्यास करना चाहिये। 'सत्य' शब्दका प्रयोग आजकल अधिकांशमें 'सत्यभाषण' के अर्थमें ही होता है। इसलिये इसपर विशेषरूपसे ध्यान देना है।

(१) जिस विषयको हमने जैसा सुना या समझा हो, ठीक उसी प्रकार समझानेका शुद्ध नीयतसे मुखमुद्रा, संकेत आदिके साथ वाणीसे वचन बोलना। यह आवश्यक नहीं है कि सुने हुए शब्दका एक-एक अक्षर ज्यों-का-त्यों उच्चारण कर देनेका नाम ही सत्य है। प्रथम तो ज्यों-के-त्यों शब्द प्रायः याद रहने बहुत कठिन हैं। याद हों तो उनको वैसे ही बोलना ही चाहिये, यह आवश्यक नहीं, हमने किसीके साथ अंग्रेजीमें बात की है, और अब हमें वह बात उनसे कहनी है जो अंग्रेजी नहीं जानते, ऐसी अवस्थामें अंग्रेजीमें बोलनेसे ही सत्यकी रक्षा समझना तो मूर्खतामात्र होगा। फिर शब्द ज्यों-के-त्यों बोलनेपर भी ध्वनिके भेदसे अर्थमें अन्तर पड़ जाता है। बात तो सीधी यह है कि हमने जिस बातको जैसा समझा है, ठीक वैसे ही समझा देनेकी नीयतसे बोलना सत्य-भाषण है। फिर चाहे वह किसी भी भाषामें और कितने ही शब्दोंमें हो, मौन रहकर केवल संकेतसे हो अथवा संकेतसहित वाणीसे हो। समझानेकी नीयतके साथ प्रयत्न करनेपर भी हम न समझा सकें और वह न समझ सके तो उसका नाम असत्य नहीं है।

(२) सत्य बात भी यथासाध्य ऐसे शब्दोंमें कहनी चाहिये

जो सुननेवालेको कड़वी न लगे। बड़े मीठे और नम्र शब्दोंमें विनयके साथ बात करनी चाहिये।

(३) बुरी नीयतसे तो किसीकी निन्दा या चुगली कहीं करे ही नहीं, वह तो सत्य होनेपर भी उसके लिये हानिकारक होनेके कारण असत्य ही है। अच्छी नीयतसे भी बिना किसी विशेष आवश्यकताके न करे। जहाँ वैसी आवश्यकता हो वहाँ भी कर्तव्यपालनके साथ ही उसके हितकी दृष्टिको सामने रखकर ही कोई बात कहे। निन्दा या चुगली करनेके समय प्रायः ज्ञात या अज्ञातमें द्वेषभाव आ ही जाता है। द्वेषकी तरङ्गोंके साथ बहते हुए, वाणीमें सत्यको कायम रखना बहुत ही कठिन होता है। आसक्ति, स्वार्थ, काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, भय, स्नेह, असूया, आवेश आदिके कारण भी निन्दा करते समय वाणीमें असत्यका आ जाना सहज है।

एक बड़ा नुकसान और है—निन्दा या चुगली दोषोंकी होती है गुणोंकी नहीं। इसके लिये पराये दोषोंको देखना, उनका मनन करना और उन्हें मनमें संगृहीत कर रखना पड़ता है। मनमें आये हुए ये परदोष संस्काररूपसे मनपर अंकित हो जाते हैं, जो धीरे-धीरे हमारे हृदयको दोषमय बना डालते हैं। पहले इच्छा न होनेपर, इनके बढ़ जानेसे हमें इनके वशमें होकर इनके द्वारा उदित हुई कामनाओंकी पूर्तिके लिये नाना प्रकारके पाप करने पड़ते हैं जो हमारे लिये महान् दुःखोंके कारण होते हैं।

दूसरी बात यह है कि जिसमें हमें दोष दिखायी देते हैं उसमें हमारा द्वेष हो जाता है, द्वेष ज्यों-ज्यों बढ़ता है त्यों-ही-त्यों उसके गुण भी दोष दीखने लगते हैं, दोषदर्शनसे द्वेष और द्वेषसे दोषदर्शन-

की वृद्धि होनेसे आगे चलकर हमारी दृष्टिमें दोषदर्शनकी इतनी बुरी आदत पड़ जाती है कि फिर हमें बड़े-से-बड़े सद्गुणी पुरुषमें भी दोष ही दिखलायी देने लगते हैं। फलतः सब जगह दोष-ही-दोष देखते रहनेसे हमारा प्रेम-भाव नष्ट हो जाता है और हम नित्य द्वेष-की आगमें जलते रहते हैं।

तीसरी बात यह है कि द्वेष-युक्त दोष-दर्शनमें बिना हुए भी हम दोष देखते हैं और उन्हींको लेकर हम जब किसीकी निन्दा या चुगली करते हैं तो इससे उस व्यक्तिके चित्तमें बड़ा दुःख होता है। दुःख तो मनुष्यको प्रायः सच्ची निन्दामें भी होता है, परंतु झूठी निन्दामें तो उसकी मात्रा बहुत ही बढ़ जाती है। हमारे कथनके आधारपर लोगोंमें उसकी बदनामी होनेसे उसके अहितमें भी हम निमित्त बन सकते हैं। इससे हम निन्दा करनेके लिये पाप-के भागी तो होते ही हैं, उसपर मिथ्या दोषारोपण करके उसे दुःख पहुँचाने और उसका अहित करनेका पाप भी अपने सिर उठाते हैं। यदि पर-निन्दा या चुगलीकी आदत छूट जाय तो फिर दोष देखने-की आदत भी धीरे-धीरे छूट जाती है।

मिथ्यास्तुति भी नहीं करनी चाहिये। यद्यपि किसीके गुणोंकी सच्ची स्तुति करना बुरा नहीं है, किसी अंशमें लाभदायक भी है, परंतु आवेश या अन्य किसी कारणवश या स्वार्थवश उचितसे अधिक स्तुति हो जाती है तो मिथ्याभाषण होता है और जितने गुण उसमें हैं, उससे कम स्तुति करनेसे वह भी एक प्रकारसे निन्दा ही हो जाती है और उसके लिये दुःखका कारण होता है और मिथ्या-भाषण तो होता ही है। अवश्य ही निन्दाकी तरह स्तुति दूषित नहीं है।

जिन वचनोंसे किसीकी हिंसा होती हो, वैसे वचन सत्य होनेपर भी सत्य नहीं माने जाते । ऐसे अवसरमें बड़ी ही सावधानीके साथ जबान खोलनी चाहिये । मौन रहनेसे या कोई बात न कहनेके कारण अपने ऊपर विपत्ति आनेसे काम चल जाय तो उस विपत्तिको सहर्ष सहन करके सत्यभाषणजनित हिंसासे बचना चाहिये । हाँ, ऐसी ही स्थिति आ जाय कि बिना असत्यके हिंसा रुकती ही न हो तो वहाँ दूसरेके या अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये कुछ छिपाकर बोलना भी पाप नहीं माना जाता, अवश्य ही वह सत्य भी नहीं है ।

(४) धन, विद्या, रूप, जाति, अधिकार आदिके अभिमानसे गर्वयुक्त वाणी न बोलकर, बड़ी ही विनयके साथ नम्र शब्दोंमें बातचीत करे । यदि कर्तव्यवश या परहितके लिये कहीं इसके विपरीत कुछ कहना पड़े और मनमें उस समय कोई भी विकार न हो तो वह दोषकी बात नहीं है ।

(५) गाली बकनेसे और अश्लील वाणी बोलनेसे जबान गंदी होती है, बुरे संस्कार जमते हैं और जाग्रत् होते हैं । वातावरणमें बुरे परमाणु फैलते हैं और सुननेवालेके मनपर चोट पहुँचती है और उसके मनमें भी गंदे विचार पैदा होते हैं । जोशमें आकर गाली बकने या अश्लील जबान बोलनेवालोंकी वाणीमें असत्य तो रहता ही है ।

इसी प्रकार शाप देनेमें भी असत्य, क्रोध, हिंसा आदि दोष रहते हैं । इनसे आत्माका पतन होता है । अतएव गाली बकने, गंदी जबान बोलने या किसीको भी शाप देनेकी आदतको बिल्कुल छोड़कर सुन्दर, सुहावने मधुर शब्दोंमें प्रेमकी वृद्धि हो और लोकहित हो, ऐसी वाणी बोलनी चाहिये । शापकी भाँति वरदान देना भी असत्यमें कारण हो

सकता है, इसलिये वरदान भी नहीं देना चाहिये। दूसरेका भला तो हर हालतमें ही चाहना और करना चाहिये।

(६) किसीके साथ व्यर्थ हँसी-मजाक नहीं करना चाहिये। यद्यपि निर्दोष विनोद बुरी चीज नहीं है, बल्कि स्वास्थ्यरक्षाके लिये और साथियोंमें उत्साह तथा आनन्दकी तरङ्गें पैदा कर देनेके लिये कहीं-कहींपर निर्दोष विनोदकी आवश्यकता भी स्वीकार करनी पड़ती है; परंतु विनोदका निर्दोष, सात्त्विक और सत्ययुक्त रहना और उसपर अंकुश रखना साधारण बात नहीं है। हँसी-मजाकमें असत्यका आ जाना बहुत ही सहज है। असत्य आनेपर उसमें और भी बहुत-से दोष आ सकते हैं। अतएव सत्यभाषणका अभ्यास करनेवाले पुरुषोंके लिये विनोदसे यथासाध्य बचना ही उत्तम है।

(७) किसीके न्याय्य स्वार्थमें आघात पहुँचे, उसके लौकिक या पारलौकिक हितमें बाधा पहुँचे, ऐसे वचन कभी नहीं बोलने चाहिये; बल्कि दूसरेका स्वार्थसाधन हो, उसे अपने स्वार्थ-परमार्थके कार्यमें सहायता और सुविधा मिले, ऐसे वचन कहने चाहिये।

(८) किसीको भी कोई मार्मिक वचन कहकर या अङ्गहीनको वैसे नामसे पुकारकर या अन्य भाँतिसे किसीको भी ताने मारना, अपमानजनक शब्द कहना, किसीपर कोई दोषारोपण करना या व्यंग-वचन बोलना सर्वथा त्याग देना चाहिये। इसमें असत्य तो रहता ही है, द्वेष, वैर, हिंसा आदि बढ़ते हैं और दूसरोंके जी दुखानेका पातक होता है। अतएव ऐसे न बोलकर किसीको कर्तव्यवश या उसके हितके लिये किसीको कोई बात सुझानी-समझानी भी हो तो नम्र शब्दोंमें और दोष बतलाना हो तो प्रेमभरी रीतिसे एकान्तमें उससे कहना

चाहिये। किसीका अपमान या तिरस्कार हो ऐसे शब्द या ऐसे स्वरसे कोई बात कभी नहीं कहनी चाहिये।

(९) दिये हुए वचनसे पलट जाना या उसे पूरा न करना और की हुई प्रतिज्ञाको तोड़ देना बहुत ही हानिकारक है। इससे मनुष्यका विश्वास उठता है, उसे पाप होता है, असत्यकी धारणा दृढ़ होती है। अतएव ऐसा न करके खूब समझकर कोई बात कहनी चाहिये और कह देनेपर उसे यथाशक्ति पूरी करनेकी भरपूर चेष्टा करनी चाहिये।

कर्तव्य या धर्मके पालनके लिये, व्रत आदिकी निश्चयताके लिये प्रतिज्ञा करना बुरा नहीं है। परंतु प्रतिज्ञा विवेकपूर्वक करनी चाहिये और धर्मसम्मत प्रतिज्ञा करनेपर उसका प्राणपणसे पालन करना चाहिये। हाँ, मूर्खतावश की हुई पापकी प्रतिज्ञाको समझ लेनेपर तोड़ देना पाप नहीं है।

(१०) चालाकीसे किसी बातको छिपाकर कहना असत्य ही है। जितना छिपाव है, उतना ही दोष है। अतएव कपटभरे शब्द नहीं कहने चाहिये।

(११) परचर्चा करने और अधिक बोलनेसे भी परनिन्दा, राग-द्वेष और असत्यका दोष आ जाना बहुत सम्भव है; अतएव बिना काम नहीं बोलना चाहिये और व्यर्थ परचर्चा तो करनी ही नहीं चाहिये।

ये ग्यारहों बातें स्वयं करनी चाहिये, करनेवालोंका समर्थन करना चाहिये तथा करनेके लिये यथावसर नम्रतापूर्वक यथायोग्य प्रेरणा करनी चाहिये, इसके विपरीत असत्यभाषण न तो करना चाहिये, न

उसका समर्थन करना चाहिये, न किसीसे वैसा करनेके लिये प्रेरणा ही करनी चाहिये । यह सत्यभाषणके द्वारा सत्यका सेवन है ।

साधन-भजनके द्वारा सत्यका सेवन

साधन-भजनमें भी बहुत बार मनुष्यका लक्ष्य भ्रमसे सत्यके स्थानपर असत्य हो जाता है और साधन-भजन भी असत्यसे मण्डित होने लगते हैं । भगवान्‌को छोड़कर अन्य कुछ भी चाहना असत्यको लक्ष्य करना है । सत्य परमात्माका आश्रय, विश्वास, चिन्तन, मनन और भजन छोड़कर असत् पदार्थोंका तथा अनित्य पार्थिव बलपर विश्वासकर अशास्त्रीय साधन-भजन करना साधन-भजनको असत्यसे मण्डित करना है । बड़ी सावधानीके साथ निरन्तर भगवान्‌को ही अपना लक्ष्य बनाये रखकर, उन्हींकी शक्ति तथा कृपापर विश्वास करके, भय, निर्बलता, संशय, प्रमाद, आलस्य, अकर्मण्यता, अश्रद्धा आदि दोषोंको सम्पूर्णतया त्यागकर परम श्रद्धाके साथ प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर निर्भय और निश्चिन्त होकर बहुत बड़े उत्साह तथा धैर्यके साथ निष्कामभावसे भगवान्‌की प्रीतिके लिये ही सत्यस्वरूप भगवान्‌का ही भजन करना चाहिये ।

यह सत्य-साधनके द्वारा भगवान्‌का सेवन है । इस प्रकार सत्यका पालन करनेसे सत्यस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है, जो मानव-जीवनका एकमात्र लक्ष्य है ।

इन पञ्च सकारोंमें एक भी 'सकार' का भगवत्प्रीत्यर्थ पूर्णतया पालन करनेसे भवरोगका नाश सम्भव है । सबका पालन किया जाय तो कहना ही क्या है ?

श्रीमद्भागवत-महापुराणके विभिन्न संस्करण

श्रीशुक-सुधा-सागर—आकार बहुत बड़ा, टाइप बहुत बड़े, पृष्ठ १३६०, चित्र रंगीन २०, मूल्य सजिल्द ... २५.००

श्रीमद्भागवतमहापुराण—(दो खण्डोंमें)—इसमें मूल श्लोक, श्लोकोंके सामने उनमें आये हुए प्रत्येक शब्दके भावकी रक्षा करते हुए छोटे-छोटे वाक्योंमें सरल व्याख्या, कई स्थलोंपर श्रीभगवान्‌की मधुर लीलाओंका रहस्य समझनेके लिये नयी-नयी टिप्पणियाँ, प्रारम्भमें स्कन्द-पुराणोक्त एक छोटा-सा माहात्म्य, श्रीमद्भागवतकी पूजन-विधि आदि, सप्ताह-पारायणकी विधि, आवश्यक सामग्रीकी सूची, पद्मपुराणोक्त प्रचलित माहात्म्य तथा अन्तमें स्कन्दपुराणोक्त भागवत-माहात्म्य और श्रीमद्भागवत-पाठके विभिन्न प्रयोग दिये गये हैं। आकार २२×२९ आठपेजी, पृष्ठ २०३२, चित्र २५ बहुरंगे, १ सुनहरा, सजिल्द मूल्य २०.००

श्रीभागवत-सुधा-सागर—यह भाषामें शुकोक्तिसुधासागर अथवा शुकसागर या सुखसागरके नामसे प्रचलित ग्रन्थके ही ढंगकी पुस्तक है। आकार २२×२९ आठपेजी, पृष्ठ १०१६, चित्र २५ बहुरंगे, १ सुनहरा, सजिल्द मूल्य ...१०.००

श्रीमद्भागवतमहापुराण—मूल, मोटा टाइप, आकार २२×२९ आठपेजी, पृष्ठ ६९२, सचित्र, सजिल्द मूल्य ...७.५०

श्रीमद्भागवतमहापुराण—मूल, गुटका, पृष्ठ ७६८, सजिल्द मूल्य ४.००

श्रीप्रेमसुधा-सागर—श्रीमद्भागवतके केवल दशमस्कन्धकी श्लोकाङ्कसहित और विविध टिप्पणियोंसे समन्वित सरल हिंदी-व्याख्या, आकार २२×२९ आठपेजी, पृष्ठ ३१६, चित्र १ सुनहरा, १४ बहुरंगे, मूल्य .. ४.५०

श्रीहरिः

सचित्र, संक्षिप्त भक्त-चरित्र-मालाकी पुस्तकें

(सम्पादक-श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार)

पैसे

भक्त बालक-पृष्ठ ७६, सचित्र। इसमें गोविन्द, मोहन, धन्ना, चन्द्रहास और सुधन्वाकी कथाएँ हैं। मूल्य ... ४०

भक्त नारी-पृष्ठ ६८, एक तिरंगा तथा पाँच सादे चित्र। इसमें शबरी, मीराँबाई, करमैतीबाई, जनाबाई और रबियाकी कथाएँ हैं। मूल्य ४०

भक्त-पञ्चरत्न-पृष्ठ ८८, एक तिरंगा तथा एक सादा चित्र। इसमें रघुनाथ, दामोदर, गोपाल, शान्तोबा और नीलाम्बरदासकी कथाएँ हैं। मूल्य ४०

आदर्श भक्त-पृष्ठ ९८, एक रंगीन तथा ग्यारह सादे चित्र। इसमें शिबि, रन्तिदेव, अम्बरीष, भीष्म, अर्जुन, सुदामा और चक्रिककी कथाएँ हैं। मूल्य ४०

भक्त-चन्द्रिका-पृष्ठ ८८, एक तिरंगा चित्र। इसमें साध्वी सखूबाई, महाभागवत श्रीज्योतिपन्त, भक्तवर विट्ठलदासजी, दीनबन्धुदास, भक्त नारायणदास और बन्धु महान्तिकी सुन्दर गाथाएँ हैं। मूल्य ४०

भक्त-सप्तरत्न-पृष्ठ ८८, सचित्र। इसमें दामाजी पन्त, मणिदास माली, कूबा कुम्हार, परमेष्ठी दर्जी, रघु केवट, रामदास चमार और सालबेगकी कथाएँ हैं। मूल्य ४०

भक्त-कुसुम-पृष्ठ ८४, सचित्र। इसमें जगन्नाथदास, हिम्मतदास, बालीग्रामदास, दक्षिणी तुलसीदास, गोविन्ददास और हरिनारायणकी कथाएँ हैं। मूल्य ४०

प्रेमी भक्त-पृष्ठ ८८, एक तिरंगा चित्र। इसमें बिल्वमङ्गल, जयदेव, रूप-सनातन, हरिदास और रघुनाथदासकी कथाएँ हैं। मूल्य ... ४०



बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग ।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग ॥

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)